ओ३म्

आर्य-समाज
के
दस नियमों की अपूर्व-व्याख्या

स्व० श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या

प्रथम संस्करण १८९७ ई० में प्रकाशित

गुरु विरजानन्द दण्डी
सन्दर्भ पुस्
ग्रहण क्रमांक ...
3810
नन्द महिला महावि

जन-ज्ञान-प्रकाशन
नई दिल्ली-५ (भारत)

प्रकाशक की ओर से

आर्यसमाज के दस नियम आर्यसमाज का ऐसा घोषणा पत्र हैं जिन आपत्ति करने का साहस कोई बुद्धिवादी, न्यायप्रिय, पक्षपातरहित व्यक्ति न कर सकता।

आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती के चिन्तन, मनन, म मानसिक भावनाओं का सजीव चित्रण हमें इन दस नियमों में उपलब्ध हो है।

प्रस्तुत व्याख्या महर्षि के प्रिय शिष्य स्व० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड द्वारा ऋषि की मृत्यु के कुछ काल बाद १८९७ में प्रकाशित की गयी थ इस दृष्टि से पुस्तक का अपना महत्त्व है। क्योंकि ऋषि के साथ रहते हुए उ भावों को समझने और हृदयंगम करने का लेखक को सुअवसर प्राप्त हुआ थ

हमारे मित्र और सहयोगी श्री पं० भवानी लाल जी भारतीय मंत्री आ प्रतिनिधि सभा राजस्थान के आग्रह से पुस्तक का यह संस्करण पाठकों सेवा में सादर प्रस्तुत है। हमें विश्वास है कि आर्य समाज के मंतव्यों को फैल में पुस्तक सफल होगी और आर्यजन उत्साहपूर्वक इसका प्रचार करेंगे।

ऐतिहासिक दृष्टि से पुस्तक के शब्दों और भाषा आदि को यथापूर्व रहने दिया है ताकि उस काल का स्वरूप बना रहे—

प्रभु का धन्यवाद, वह कृपा करें कि ये मन्तव्य सर्वत्र विस्तार पाएँ।

—भारतेन्द्र न

भूमिका

श्रीमत्परमपदप्राप्त परमपूजनीय परमहंस परिव्राजकाचार्य्य श्री १०८ श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामीजी महाराज और उनके उपदेश से स्थापित हुए आर्य्यसमाजों के नामों को ऐसा कोई भी इस काल में नहीं है कि जो नहीं जानता हो, किन्तु हम निःसन्देह कह सकते हैं कि संसार भर में उनके नाम भले प्रकार विदित हैं। सांप्रत काल में उक्त स्वामीजी महाराज वेद और ऋषि-मुनिकृत आर्यशास्त्रों के एक बड़े ही अपूर्व पण्डित हुए हैं जैसे वे पूर्ण विद्वान् थे वैसे ही वे सच्चे संन्यासी और परोपकारी भी थे। उन्होंने वेदोक्त परा और अपरा विद्याओं को उपार्जन करके प्रथम अपनी अविद्या का जैसा कि चाहिये वैसा नाश किया और उसके नाश होते ही उनको अपने चतुर्थाश्रम का कर्त्तव्यकर्म सूझ पड़ा और पाँच सहस्र वर्ष से घोर अज्ञानान्धकार और धर्माभासपाखण्ड में पड़े हुए संसार भर के हम सब लोग दृष्टि आये। उन्होंने हमारी हीन और दीन दशा देखकर जो सच्चे गुरु के करने का काम होता है वह करना झट ही प्रारम्भ कर दिया। और हमारे कल्याण के लिये अपने अनेक सुख छोड़कर दुःख उठाये और अन्त को हम सबके ही कल्याण के लिये अपने प्राण अकालमृत्यु के अर्पण कर दिये। उन्होंने यह सिद्ध कर बताया है कि संसार भर के सब मनुष्य आर्य्य-संतान हैं और महाभारत के पहिले संसार भर में एक ही धर्म था और जब से अनेक धर्म्म फैले हैं तब से परस्पर के लड़ाई झगड़ों के मारे बड़ी ही अशान्ति फैल गई है। वह तब तक नहीं मिट सकती है कि जब तक सब में छिपा एक ही धर्म्म स्थापित न हो। संसार भर की इस अशान्ति को मिटाने के लिये उन्होंने सब की धर्म्म पुस्तकों की भले प्रकार परीक्षा करके यह निश्चय किया है कि और सब जाति के मनुष्य तो अपनी आदि की स्थिति से बहुत ही च्युत होकर उनकी वर्तमान रहनी कुछ और की और हो गई हैं और जैसे वे हो गए हैं वैसी ही उनके धर्म्म और धर्म्म पुस्तकादि की दशा हो गई हैं। किन्तु आर्यों और उनके वेद की कुदशा नहीं हुई है अर्थात् आर्यों ने बिगड़ते-बिगड़ते भी अपनी मूल संज्ञा का अभिमान अब तक नहीं

छोड़ा है और उनका वद भी मूल में तो ज्यों का त्यों बना हुआ है परन्तु उसके वास्तविक अर्थ को नहीं जानकर अनेक मत वाले लोगों ने अनेक अर्थ अपने-अपने मन माने कर लिये हैं। शुद्ध वैदिक भाषा और शुद्ध वैदिक परा और अपरा विद्या संसार भर की भाषा और विद्याओं के आदि कारण रूप हैं। अत-एव उक्त स्वामीजी महाराज ने जहाँ तक उन से हो सका वहाँ तक आर्यों के धर्म्म में से पीछे से मिले सब मैल को निकालकर संसार भर के मानने का साम्राज्य-सार्वजनिक धर्म्म कि जिस को सनातन वेदोक्त धर्म्म कहते हैं सबके सन्मुख प्रकाश कर दिया है। देखा जाता है कि बहुत से लोग यह कहा करते हैं कि स्वामीजी ने अपना एक नया धर्म्म प्रचार किया है और आर्य्यसमाजस्थों को वे दयानन्द मत वाले आदि भी कहा करते हैं, परन्तु यह उनकी बड़ी ही भारी भूल और मूर्खता है क्योंकि स्वामीजी महाराज ने अपने मन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में यह स्पष्ट लिखा है:—

"अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्य्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूँ सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सब को एकसा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उस को मानना, मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्य्यावर्त्त में प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किन्तु जो-जो आर्य्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्म्म युक्त चालचलन है उसका स्वीकार और जो धर्म्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म्म से बहिः है।"

इससे स्पष्ट विदित है कि मिथ्यावादी लोग स्वामीजी और समाजों पर व्यर्थ दोष लगाते हैं। उनको अपनी भूल स्वीकार करके लज्जित होना चाहिये और फिर कभी ऐसा वचन मुख से न निकालें किन्तु सदा याद रक्खें कि स्वामी जी महाराज ने न तो स्वयं सब समाजों को उपदेश किया है और न समाजें उनको ऐसा मानती हैं कि वे ईश्वर अथवा ईश्वर के अवतार अथवा ब्रह्मास्मीति वाले ब्रह्म थे और न उनका यह कोई धर्म्म है। संसार में जैसे अनेक धर्म्मगुरु, उनकी गद्दियें, शिष्य परम्परा मठ, मन्दिर, शिवाले, बैठक और अस्थलादि अनेक

मतवालों के हैं उस परिपाटी को उन्होंने स्थापित ही नहीं किया है और न अपने गुरुत्व का कुछ भी अड़ंगा आर्य समाजियों पर जमाया है। निदान यही सब से बड़ा एक कारण है कि समाजस्थ लोग उस सच्चे संन्यासी, सच्चे विद्वान् सच्चे परोपकारी, सच्चे देश हितैषी और संसारभर में शान्ति फैलाने वाले पर नौछावर होते हैं और उनको सब धर्मों के आचार्यों से भी असंख्य गुना अधिक मान देते हैं। यह समाजस्थों का सत्य न्याय, प्रीति और भक्ति है कि स्वामीजी का नाम संसार में चिरस्थायी रहने के लिये वे अनेक स्मारक कृत्य करते हैं, परन्तु उस वास्तविक सत्पुरुष ने तो न तो अपने जीतेजी और न परमपद प्राप्त हुये पीछे हमारे ऊपर अपने गुरुत्व का कुछ भी अड़ंगा रक्खा है। किन्तु सब संसार के कल्याण के लिये वेद को मंथन करके उस में जो सत्य विद्या और सत्य धर्म्म के अनेक मर्म हैं उनको इन दश नियमों में प्रकाश कर दिये हैं। प्रत्येक मनुष्य इन दशों का भले प्रकार विचार करके जान सकता है कि मनुष्य जन्म को सफल करने के लिये जिस-जिस बात की हम कल्पना करेंगे वह सब बातें उनके अन्तर्गत आगई हैं तथा वे ऐसे हैं कि संसार भर के मनुष्यों को उन के मानने में कुछ भी अड़चन नहीं पड़ सक्ती है क्योंकि उनमें जो २ सत्य वार्ता सब प्रचलित मतमतान्तरादि में हैं, वह तो सब आ गई हैं और जो उनके विरुद्ध हैं वह स्वतः छूट गई हैं जैसे सत्य बोलना चाहिये, इसके कहने में मिथ्या बोलने का त्याग करना स्वतः ही आजाता है। इन नियमों से उनके ऊपर ईमान लाने वालों की अनेक आधुनिक जाति के नामों का दुराग्रह दूर होकर संसार भर के मनुष्यों का जो सनातन मूल जाति का नाम "आर्य्य" है उसका अभिमान आ जाता है। और वैसे ही अन्य सब सनातन विद्या और धर्म्मकी बातें भी प्राप्त हो जाती हैं। क्या किसी को अपनी असलियत को भूलकर आधुनिक बात का पक्ष करना चाहिए ? कदापि नहीं। जो लोग संसार भर के मनुष्यों को आत्मवत् समझते हैं और जिनके अन्तःकरण में कुछ भेदाभेद ही नहीं है, उनके ध्यान में इन नियमों के आशय और माहात्म्य झट आ जाते हैं और वे प्रत्येक नियम के एक २ शब्द के गौरव पर नौछावर जाते और श्री स्वामीजी महाराज की सुख्याति करते हैं। इन नियमों की विद्या और धर्म्मके अनेक विषयों में एकसी व्याप्ति है कि चाहे जिसमें उनको लगाकर हम सार निकाल लें। वैसे ही श्री स्वामीजी महाराज ने जो कुछ अपने रचित ग्रन्थों

में लिखा है उन सब का इन में समावेश है। इनकी उत्तमता हम कहाँ तंक बतावें, हमारे पाठक उनकी परीक्षा करके उनके सर्वाङ्ग में जो केवल उत्तमता ही भरी है उसका अनुभव आप कर लें। इनकी व्याख्या करने से हमारा मुख्य इतना ही प्रयोजन है कि उनके अन्तर्गत जो २ अमूल्य पदार्थ भरे हैं वह सबके जानने में आ जावें और जैसे उनको श्री स्वामी जी महाराज ने सर्वोपरि माने हैं वैसे हम भी मानें। श्री स्वामीजी महाराज के न्याय, धर्म्म और कुशाग्र-बुद्धिमता को देखना चाहिये कि उन्होंने आर्य्यसमाजस्थ होने के लिए उपनियम ३ से इन दश नियमों का ही मुख्यत्व रक्खा है अर्थात् जब हम समाजस्थ होते हैं तब हम इनके स्वीकृत करने की प्रतिज्ञा लिखकर बन्धन में आते हैं। उन्होंने अपने ग्रंथों को इनके आगे गौण पक्ष में रक्खा है क्योंकि वे इनकी व्याख्या में हैं और उनमें किसी कारण विशेष से कोई भूल-चूक हो जाने का भी सम्भव है और यह दश तो मानो तीनों काल में सत्यस्वरूप ही बने रहने वाले हैं। सदा स्मरण में रखना चाहिये कि वेद की सत्य विद्या और सत्य धर्म का तो ये दश नियम सार हैं और इन का बृहत् रूप मन्तव्यामन्तव्य प्रकाश है और उनकी सविस्तार व्याख्या में सब स्वामी जी कृत ग्रन्थ हैं। फिर भी स्मरण में रहे कि यह वह दश कुंजिका हमारे पास हैं कि जो किसी ने श्री स्वामीजी महाराज कृत ग्रन्थों में कुछ अशुद्धियाँ भी डाल कर ताला जड़ दिया हो तो हम उनको भी इनके बल से खोलकर झट पकड़ लें। हमको शोक पर शोक है! कि इस-समय हमारे एक पंजाबी बन्धु कि जिनका पण्डित श्री गुरुदत्तजी विद्यार्थी एम. ए. नाम था वह विद्यमान नहीं हैं। यदि वे विद्यमान होते तो श्री स्वामीजी महाराज की प्रज्ञा के जो-जो मर्म हम अब प्रकाश कर रहे हैं उन पर वे निःसन्देह "फिदा,, हो जाते। क्योंकि स्वामीजी की सब उक्तियें निरे मर्मों से भरी हुई हैं। हमारे देश में जो एक यह कहावत प्रसिद्ध है कि वेद का मर्म श्री ब्रह्माजी भी नहीं जानते थे उसके विरुद्ध स्वामीजी ने यह सिद्धकर बताया है कि अस्मदादि भी कुछ मर्म की बात जान लेने का दावा करने लगे हैं। क्या यह एक नये सूर्य के उदय होने जैसी बात नहीं है? जब कि हम इन दश नियमों को मूसा को प्राप्त हुए दश नियमों से मिलान करके मर्म की बात को विचारते हैं तो हमारे मुख से यही निकलता है कि धन्य है! वह श्री वेदनारायण कि जिसने इनका प्रकाश वेद में किया और

धन्य हैं स्वामीजी श्री दयानन्दजी सरस्वती महाराज को कि जिन्होंने वेद का मन्थन करके हमको उपदेश उनका किया।

हमारे पाठकों को यह भी विदित रहे कि जैसे हमारी यह व्याख्या अन्य सब बातों में उपयोगी है वैसे चतुर उपदेशकों के लिए भी बड़ी लाभकारी होगी क्योंकि जितने पौराणिक प्रमाण हमने बड़े परिश्रम से शोध कर-करके लिखे हैं वे उनके अनेक विषयों के व्याख्यानों में बड़े ही उपयोगी होंगे तथा हमारे अन्य हिन्दू बन्धुओं को भी हमारी व्याख्या पढ़कर अनर्थका तात्पर्य्य नहीं निकालना चाहिये किन्तु साधर्म्य पर दृष्टि रक्खें कि जो बात जैसे आर्य्यसमाजस्थ मानते हैं वह वैसे ही उनके माननीय ग्रन्थों में भी लिखी मिलती है अतएव ऐसी बातों में परस्पर लड़ना-भिड़ना दूर करें और दोनों आपस में भ्रातृभाव से वरतें। सज्जन लोग आपस के लड़ने-भिड़ने को बुरा समझा करते हैं और मेल मिलाप को भला कहते हैं। देखो हमारे पुरुषा ऋषियों ने कहा है कि पदार्थ मात्र में साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों होते हैं। निदान वह किसी के मेटे तो मिट ही नहीं सकते हैं अतएव बुद्धिमानी इसी में है कि साधर्म्य पर सदा दृष्टि रखकर परस्पर की फूट को रसातल को भेज दें और आपस में सब भ्रातृ-भाव से ही रहैं। बहुत से लोग ऐसा समझते हैं और उनको उनके स्वार्थी सलाहकार भी ऐसा ही समझाया करते हैं कि श्री स्वामीजी महाराज ने उनके मतों का खण्डन वैरभाव से किया है परन्तु वह मिथ्या है। अन्य सब मतों में जो परस्पर का खण्डन मण्डन है वह अपने-अपने मत की पुष्टि के लिये है और जब कि स्वामीजी ने अपनी ओर से कोई वैसा मत ही स्थापित नहीं किया है तब अन्य मतों के सदृश उनके खण्डन को समझना क्या एक बड़ी भारी भूल की बात नहीं है जैसे कि स्वामीजी ने अपना कोई नया मत नहीं चलाना स्वयं लिखा है वैसे ही उन्होंने अपने खण्डन के हेतु में यह स्पष्ट लिखा है:—

"और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न नहीं करता क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सबको ऐक्यमत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीति युक्त कराके सब से सबको सुख

लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे" जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।"

(देखो सत्यार्थप्रकाश का स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश पृष्ठ ५९२)

तथा उन्होंने दूसरे स्थान पर यह और भी लिखा है:—

"इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा-शाखान्तररूप मत आर्य्यावर्तदेश में चले हैं उनका संक्षेप से गुण दोष इस ११ वें समुल्लास में दिखाया जाता है। इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें क्योंकि मेरा तात्पर्य्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं किन्तु सत्याऽसत्य का निर्णय करने-कराने का है— देखो सत्यार्थप्र० पृ० २०१

इससे स्पष्ट विदित है कि श्री स्वामीजी महाराज को किसी से कुछ ईर्षा-द्वेष नहीं था और जो लोग उनसे ऐसा करते हैं यह उनकी भूल है। अन्त में यह वक्तव्य है कि सज्जन लोग सदा गुणग्राही होते हैं और बुराई में से भी भलाई को ग्रहण कर लेते हैं अतएव विद्वान् बन्धुओं से विनती है कि इसमें जो कहीं कुछ भूल-चूक रह गई हो उसके लिए क्षमा करें और जो उसको वे मित्र भाव से मुझे विदित कर देंगे और वह वास्तव में यथार्थ होगी तो इसके दूसरे संस्करण में शोधन कर दिया जायगा। इत्योम।

मथुरा सबका सत्यप्रिय

ता० १-९-१८-९७ ई० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या

The
TEN COMMANDMENTS
of the
ARYA SAMAJES OF ARYYAVART
WITH
English Translations and Nagri-bhasha Commentary

आर्य्यावर्त्तान्तर्गत
आर्य्यसमाजों के अंग्रेजी अनुवाद और नागरी भाषा व्याख्या सहित
दस नियम

पहला नियम=THE FIRST COMMANDMENT

मूल=TEXT

(१) सब सत्यविद्या और जो पदार्थविद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

Different Translations

(I) God is the original cause of all true knowledge and of the things made known by it.

Triumph of Truth page 99.

(II) God is the Fountain of all true knowledge and the primeval cause of all things knowable.

What is Arya Samaj's P. 3.

1 2 3

(III) All (things) which are known by Satya-Vidya and Padarth-Vidya, God is the First—cause of them all—

(1) God, Soul and Material cause of the Universe, i,e, Ishwar, Jiva and Jagat or Prakriti.

(2) Knowledge of the Supreme being.

(3) Knowledge of the Substantial or Material form of being.

Our Translation.

व्याख्या

आर्य्यसमाज वास्तव में क्या है, इसका सविस्तार वर्णन हम आर्य्यसिद्धान्त मार्तण्ड के द्वितीय विषय में कर चुके हैं। ध्यान में रहे कि उनके जो उद्देश हैं वे दश नियम और उनके प्रबन्ध की जो व्यवस्था है वह उपनियम करके प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक समाजस्थ तब तक आर्य्य कहला सकता है कि जब तक वह इन नियमों को माने और उपनियमों के अनुसार चलता रहे। सारांश यह है कि प्रत्येक आर्य्य और आर्य्यसमाज का मुख्य कर्त्तव्यकर्म यह दश नियम हैं। यह नियम शब्द नि+यम से बना है और ईश्वर का नाम भी नियम है जैसे कि विष्णुसहस्रनाम में कहा है—"प्रतीन्द्रः संग्रहः सर्गो धृतात्मा नियमो यमः" —और उसके भाष्य में इसका यह अर्थ किया है—"स्वेषु स्वेष्वधिकारेषु प्रजा नियमयतीति नियमः"—अतएव सदैव ध्यान में रखना उचित है कि इसका साधारण प्रतिज्ञादि का ही अर्थ नहीं है, किन्तु यह उस आदेश का भी वाचक है कि जो चाहे तो अपने से बड़े का आज्ञा किया हुआ हो अथवा अपने लिये अपने आप किया हुआ हो। ऐसा आदेश मनुष्यमात्र को माननीय होता है और संसार में हम देखते भी हैं कि प्रथम कोई नियम किये बिना किसी काम की सिद्धि नहीं होती है। इन नियमों को भले प्रकार मानने से मनुष्यमात्र की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति होती है। जो कोई इस बात की सत्यता का अनुभव करना चाहे, वह कुछ समय तक इन पर चलकर अपने अन्तःकरण से आप पूछ देखे।

उनमें से यह पहले नियम का मूल और उसके तीन भाँति के अंग्रेजी अनुवाद सबके सम्मुख उपस्थित हैं। उनके ही अवलोकन करने से यह स्पष्ट विदित है कि लोग अपनी अपनी समझ के अनुसार इसके भिन्न २ अर्थ करते हैं। जब ऐसा है तब यह अत्यावश्यक है कि इसका विचार करके निश्चय किया जावे कि उसके रचने वाले ने वास्तव में उसका क्या अर्थ माना है। इसमें तो कुछ संदेह नहीं है कि यह नियम अपने मान में तो केवल डेढ़ अथवा दो लकीर

का है और वह उस नागरी भाषा में है कि जिसको आजकल हम लोग बड़ा ही सुगम भाषा समझते हैं। यह बात सदैव ध्यान में रखने की है कि ऐसे तो सब ही भाषा सुगम ही सी दीखा करती हैं, परन्तु उनका वास्तव में कठिन और सुगम होना उनके गर्भित आशय पर ही आधार रखता है अर्थात् उसमें जैसा विद्या और पदार्थविद्या का बड़ा गम्भीर विषय वर्णन किया होता है वैसा ही उसका स्वरूप भी हो जाता है। ऐसी ही निःसन्देह इस नियम की भाषा की दशा है क्योंकि वह एक बड़े विद्वान् का तो रचा हुआ है और उसका विषय भी वैसा विश्व भर के विषयों की समष्टि करके उनके आदिमूल परमेश्वर की संज्ञा का है। लोगों के अर्थ करने में जो कुछ अन्तर पड़ता है उसका यह कारण होना प्रतीत होता है कि इसकी नागरी भाषा होने से वे लोग शास्त्रीय भाषा के सदृश उसके शब्द, अर्थ और सम्बन्ध पर विशेष ध्यान नहीं देते हैं॥

भला उसे तो जाने दो और इसको ध्यान में रक्खो, कि साहित्य शास्त्र में गद्य और पद्य दोनों की काव्य संज्ञा कही है। जहाँ बहुत बड़ा गम्भीर शास्त्रीय विषय थोड़े से गद्य में कहा होता है, वह गद्य भी बड़ा कठिन होता है, जैसे कि षट्दर्शनादि के सूत्रादि। और उसमें भी पद्य के सदृश प्रायः अन्वय करके अर्थ करने की आवश्यकता होती है। निदान मानना चाहिये कि यथायोग्य अन्वय नहीं करने से ही इस नियम के अर्थ में अर्थान्तर होता है॥

अन्वय करने के पहिले इस नियम के प्रत्येक पद को ध्यान में लेकर व्याकरण से उनका विस्तार करो। तब ज्ञात होगा कि यह नियम तीन वाक्यखण्डों से बना हुआ है। और फिर उन तीनों को पृथक्-पृथक् करके देखो कि कौनसा तो पूर्ण और कौनसा अपूर्ण वाक्यखण्ड है। और जो अपूर्ण प्रतीत हो उसकी पूर्ति कैसे हो सकती है। ऐसा करने से यह स्थिति होती है:—

१—उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२—और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं।

३—सब सत्यविद्या।

अब ज्ञात हो गया कि तीसरा "सब सत्य विद्या वाक्यखण्ड अपूर्ण है। उस को पूर्ण करने के समय दूसरा वाक्यखण्ड हमको चिताता है कि तीसरे का रूप

जब उसका सा किया जावे तब वह ठीक होगा। क्योंकि कारण की विभक्ति "से" और क्रिया "जाने जाते हैं" उसके साथ लगे हैं और उनको परस्पर मिलाने वाला "और" भी उसी के साथ है। तथा सम्बन्धवाचक सर्वनाम "जो" भी उसी के साथ है और तीसरे के साथ तो केवल गुणवाचक सर्वनाम "सब" है॥

इतने विचार से नियम की भाषा की सान्वय स्थिति यह होती है:—

"जो सब सत्यविद्या और पदार्थविद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है"॥

यहाँ पर दो सर्वनाम पास-पास आये हैं, अतएव उनमें से "सब" गुणवाचक तो विशेषण है और सम्बन्धवाचक "जो" विशेष्य है। ऐसी दशा में अन्वय करने में "सब जो" करते परन्तु नियम की भाषा में बल दिया हुआ है और अन्त के वाक्यखण्ड में सम्बन्धवाचक "जो" का सम्बन्धी "उन" है, इसलिये "उन सब" के साथ "जो सब" ही अन्वय करना ठीक है।

अब इस नियम के अर्थ का विचार करते हैं। इसके पहिले यह ध्यान में रख लेना चाहिये कि इस नियम करके ईश्वर की संज्ञा वर्णन कियी गई है तदनन्तर इसका वास्तविक अर्थ यह है:—

जो सब=ईश्वर, जीव और जगत् अर्थात् प्रकृति या जगत् से लेकर ईश्वर-पर्य्यन्त अथवा ब्रह्मादि तृणपर्य्यन्त।

आर्य्यसमाजी इन ईश्वर, जीव, और जगत् अर्थात् प्रकृति, तीन पदार्थों को अनादि मानते हैं। इनमें से जीव और ईश्वर को स्वरूप और वैधर्म्य से तो भिन्न और व्याप्य-व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न होना मानते हैं; जैसे, आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है और न होगा और न कभी एक था, न है और न होगा। इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को वे व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानते हैं। तथा इन तीनों को वे प्रवाह से अनादि मानते हैं, क्योंकि जो संयोग से द्रव्य, गुण और कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते हैं परन्तु जिससे प्रथम संयोग

होता है वह सामर्थ्य उनमें अनादि है और उससे पुनरपि संयोग और वियोग भी होंगे। निदान सत्यविद्या और पदार्थविद्या से जो ज्ञान होता है वह इन तीनों का ही होता है। वास्तव में इन तीनों के सिवाय और कुछ है भी नहीं। यदि हम और कुछ होने की कल्पना भी करें तथापि वह सब इन तीनों में से किसी न किसी का अन्तर्गत विषय होगा। पुराणों में भी 'सर्वेषाम्' का अभिप्राय "ब्रह्मादितृणपर्य्यन्तम्" करके ही माना है, जैसेः—

"ब्रह्मादितृणपर्य्यन्तं सर्वेषामहमीश्वरः" ॥४६॥

ब्रह्मवैवर्त्त कृ० ६ अ०।

यह शब्द यहाँ बहुत ध्यान देकर समझने के योग्य है। कितनेक लोग इसका अर्थ 'सच्ची विद्या' का करते हैं परन्तु उनको ध्यान देना चाहिए कि उसके आगे 'पदार्थविद्या, शब्द भी है। सो क्या वह फिर असत्यविद्या वा अविद्या में ग्रहण होगा। यहाँ 'पदार्थविद्या' शब्द का प्रयोग हमको सचेत करता है कि इस नियम के रचने वाले ने यहाँ विद्या को दो भेद से माना हैं; जैसे सत्यविद्या और पदार्थविद्या। इन दोनों विद्याओं की संज्ञाओं के बीच में "और' शब्द भी प्रयोग किया गया है। यदि यहाँ 'पदार्थविद्या' शब्द न होता और केवल सत्यविद्या ही शब्द होता तो हम यावत् सत्य विद्याओं के अर्थ का समावेश उसमें ही किया हुआ अथवा माना हुआ समझ सकते थे। यह शब्द आर्य्य-समाजों के माननीय ग्रन्थादि में कहीं तो यहाँ के सदृश और कहीं अकेला ही प्रयोग हुआ दृष्टि आता है। देखो, तीसरे नियम में वह अकेला ही प्रयोग हुआ है। विद्या अथवा सत्यविद्या से ही इस लोक और परलोक की विद्याओं का समुच्चय अर्थ समझ लिया जा सकता हैं परन्तु नियम के रचने वाले ने यहाँ इन दोनों शब्दों को पृथक्-पृथक् प्रयोग करके 'सत्य-विद्या' से तो ब्रह्मविद्या और 'पदार्थविद्या' से सृष्टिविद्यासंबन्धी अपना अभिप्राय स्पष्ट प्रकाशित किया है। यहाँ सत्यविद्या शब्द का अर्थ करने के समय हमको उसके समास पर भी ध्यान देना चाहिये और

वैसे ही पदार्थविद्या शब्द पर भी। जैसे पदार्थविद्या शब्द पदार्थ+विद्या=पदार्थ अथवा पदार्थों की विद्या का वाचक सिद्ध होता है वैसे ही सत्य+विद्या=भी सत्य=ब्रह्म की विद्या का वाचक होता है। सत्यं ब्रह्म को कहते हैं, यथाः—

"सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति"

और तीसरे नियम में इसका यावत् सत्यविद्याओं का निःसंदेह समुच्चय अर्थ है। जिन वेदों को हम मानते हैं उनमें यही दो प्रकार की विद्या मानी गई हैं। और उनके नाम परा और अपरा विद्या हैं। इनके विषय में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रथम छपी के पृष्ठ ४२ में यह लिखा है :—

"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" ॥

मुण्डके १ खंडे १ मं० ५ ॥

भाष्य—वेदेषु द्वे विद्ये वर्तेते अपरा परा चेति। तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टाऽस्तीति वेद्यम्।

भाषार्थ—वेदों में दो विद्या हैं एक अपरा दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है कि जिससे पथिवी और तृण से लेके प्रकृति-पर्य्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।

निदान इससे और भी स्पष्ट है कि नियम के रचने वाले ने यहाँ पर सत्यविद्या से तो परा और पदार्थविद्या से अपरा विद्याओं को माना है।

पदार्थ विद्या से=सृष्टिविद्या वा प्रकृतिविद्या अर्थात् जगत् के कारण की विद्या।

इस विद्या का वर्णन चारों वेद, चार उपवेद, छः अंग और छः उपांग अर्थात् छः शास्त्र वा षट्दर्शनादि में किया हुआ है, वह सबके जानने में ही है। किन्तु कितनेक समय से हमारे अन्य संप्रदायस्थ बन्धुओं में षट्दर्शनों के विषय में यह दन्तकथा प्रसिद्ध हो रही है कि वे परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं। इस बात को समाजस्थ अयुक्त और असत्य मानते हैं। वे इस प्रकार से मानते हैं कि हमारी एक पदार्थविद्या के छः विभाग हैं और वे ही छः विभाग सृष्टि के बनाने के छः कारण हैं उनमें से एक-एक का दर्शन प्रत्येक छः ऋषियों ने किया है; जैसेः—

(क) सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या जैमिनि मुनि ने पूर्व-मीमांसा में करी है।

(ख) समय की व्याख्या कणाद मुनि ने वैशेषिक शास्त्र में करी है।

(ग) उपादान कारण की व्याख्या न्यायदर्शन में गौतमजी ने करी है॥

(घ) पुरुषार्थ की व्याख्या भगवान् पतंजलि ने योगशास्त्र में करी है॥

(ङ) तत्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में कपिल मुनिजी ने की है।

(च) निमित्त कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या, वादरायण ने ब्रह्मसूत्र नामक शास्त्र में की है।

इससे हरेक मनुष्य सहज में समझ सकता है कि प्रत्येक ऋषि मुनि ने अपने-अपने विषय की व्याख्या करी है। यदि वे परस्पर यह कहते कि जैसे व्याकरण को सांख्य अशुद्ध बतलाये और व्याकरण सांख्य को। तथा गणित कहै कि योग झूठा है और योग गणित शास्त्र को इत्यादि। हमारे अन्य बन्धुओं को अनेक मतों में होने और अपने देशकी विद्या का पूरा २ ज्ञान न उपार्जन करने से ऐसा भ्रम हुआ और होता है। निदान जब वे पक्षपातरहित होकर शुद्ध अन्तःकरण से मनन करेंगे तब सत्य उनको विदित हो जायगा। देखो हमारे स्वदेशीय षट्दर्शन-चिंतनिका के अनुवाद करने वाले महाशय को हमारे षट्शास्त्रों की उत्तमता का कुछ यथार्थ अनुभव हुआ तब उन्होंने एक स्थान पर

यह कहा है:--

"Yet the six Schools of Philosophy are decidedly in advance of him, and inculcate principles which have all the freshness of modern European thought and possess truth of which no nation ought to be ashamed."

जाने जाते हैं=स्पष्ट है अर्थात् ज्ञात होते हैं अथवा विदित होते हैं।

चेत रखना चाहिये कि यह क्रिया बहुवचन की है अतएव 'जो सब' भी बहुवचन में समझना उचित है।

उन सबका=ईश्वर जीव और जगत् अर्थात् ब्रह्मादि तृणपर्य्यन्त का।। इसका सम्बन्ध 'जो सब' से है। जैसे वे बहुवचन के अर्थ में हैं वैसे ही यह भी वाक्य है।

आदिमूल=आदिकारण।

यह आदि शब्द "डुदाञ् दाने और आङ्पूर्वक" से बना है। उसका अर्थ यह है—"यस्मात् पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिरित्युच्यते" जिसके पूर्व कुछ नहीं और परे हो वह आदि कहाता है और 'भूल' कारण को कहते हैं जैसे:—

मूले मूलाभावादमूलं मूलम्।। सांख्य अ० १। ६७।।

तथा मनुजी के इस वचन:—

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलम्। अ० ११। ८४।।

की टीका में कुल्लूक भट्ट ने भी "मूलं कारणम" करके ही माना है।

परमेश्वर है=परमात्मा वा परब्रह्म।

जैसे परमेश्वर को आदिमूल संज्ञा करके यहाँ ग्रहण किया है वैसे ही पुराणादि में भी पर्य्याय नामों से उसको वर्णन किया है; जैसे:—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं आदिदेवमजं विभुम्।।

गीता १०। १२।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
सहस्रात्मा ह्यपापोऽयमादिदेव उदाहृतः ।।

—याज्ञवल्क्यस्मृति ।।

वासुदेवो बृहद्भानुरादिदेवः पुरंदरः ।।

—विष्णुसहस्रनाम ।

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ।
जंगमाऽजंगमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ।।१३८।
योगो ज्ञानं तथा सांख्यविद्याशिल्पादि कर्म च ।
वेदः शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनात् ।।

—विष्णु० १३९ ।।

तद् ब्रह्म परमं धाम सर्वकारणकारणम् ।

—ब्रह्मवैवर्त्त अ० २८।३४ ।।

प्रणमामि जगन्नाथं जगत्कारणकारणम् ।

सत्यन्नारायण० ५१ ।।

निदान इस नियम का वास्तविक अर्थ यह है कि 'जो सब, ईश्वर, जीव और जगत अर्थात् प्रकृति ब्रह्मविद्या और सृष्टिविद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि कारण ईश्वर है' । यहाँ पर यह भी अवश्य वक्तव्य है कि आर्यों के शास्त्रीय शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ प्रकाश करने वाले शब्द अंग्रेजी आदि भाषाओं में बहुधा नहीं मिला करते हैं, अतएव अनुवाद करने वालों को प्रायः बड़ा परिश्रम पड़ा करता है और इस कारण से कभी-कभी अनुवाद में भूल भी हो जाती है । इसलिये शिष्टाचार यह है कि खंडन-मंडन के समय मूल पर अधिक ध्यान देना उचित होता है । और अनुवाद करने वाले का यह मुख्य काम है कि वह चाहे किसी भी मत का क्यों न हो और उसके मन्तव्यामन्तव्य कैसे भी क्यों न हों परन्तु वह धर्म्म और न्याय को साक्षी रखकर और मूल के रचने वाले के वास्तविक अभिप्राय को भले प्रकार समझ कर उसके अनुकूल ही अनुवाद करे । जब अनुवाद करने में किसी शब्दादि का यथावत् अर्थ प्रकाश न होता देखे तब उस शब्द को जैसे का तैसा प्रयोग करके टिप्पण्यादि में उसका पूर्ण अर्थ प्रकाश

कर दे। ऐसी दशा में अन्य विद्वानों का भी ऐसा ही कहना है:—

I. There are, we believe, no words in English which exactly correspond to them. We will explain the original words."

—*S. Chintanica page 4.*

II. "The technical terms employed in translation are necessarily rather suggestive than reproductive of the original."

—*A.E. Gough.*

III. "Dr. Ballantyne has rendered the word *Yoga* into "concentration." That English word, however in its ordinary signification, does not convey anything like a fair idea of what *Yoga* means. The word meditation would have been made appropriate, but even that does not convey all the ideas which the Sanskrit term has been made to comprehened. A perfect English equivalent is not to be had, and I prefer, therefore to use the original term to coining a new one."

—*Dr. Rajendralal Mitra.*

पाठक महाशयो ! आपको मनन करने से ज्ञात होता है कि आर्य्यसमाज का जो आदिकारण संज्ञावाला परमेश्वर है उसको वास्तव में तो सब मतावलम्बी और नास्तिक तक भी मानते हैं और हमारे देश की पाठशालाओं के विद्यार्थी भी "The Universal prayer में Thou great First cause" करके पढ़ते हैं और आर्यसमाज तो उस ईश्वर को निर्भ्रान्त होकर मानते हैं। इसके साथ यह भी सदैव ध्यान में रहे कि अन्य लोगों की तरह समाजों का यह कहना नहीं है कि उक्त ईश्वर हमारा ही है किन्तु वे यह मानते हैं कि वह मनुष्यमात्र का उपासनीय महादेव है। इस ईश्वर को हम लोगों के सदृश किसी के भी साथ कुछ राग द्वेषादि नहीं है और न वह मुसलमान, किरस्तान और जैनी आदि किसी से भी डरता है और न वह उनके उमका नाम लेने से अपवित्र होता है। इसी से आर्य्यसमाज के मंदिरों में अंग्रेज और मुसलमान और नास्तिक भी व्याख्यानादि सुनने को आते-जाते हैं परन्तु वह सबका आदिकारण ईश्वर उन लोगों से डर अथवा अपवित्र होकर कहीं भाग नहीं जाता है वरन् वहाँ का वहीं सब में पूर्ण व्याप्त रहता है। सो सत्य है। अब इसके आगे दूसरे नियम में इस ईश्वर का लक्षण कहा गया है सो उसकी व्याख्या उसके साथ निवेदन कियी जायेगी। इत्योम्।

दूसरा नियम = THE SECOND COMMANDMENT

मूल = TEXT

(२) ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्य्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उसासना करनी योग्य है॥

Different Translations

"The Supreme Being is true, intelligent, holy, happy, unbeginning, Almighty, just, merciful, unborn, infinite, unchangeable, eternal, incomparable, all-supporting, all-governing, all-pervading omniscient, undecaying, immortal, fearless, incorporeal and the maker of the universe. He alone is to be worshipped."

—*Triumph of Truth P. 99.*

II. "Worship is alone due to God who is All-truth, All-knowledge, All-beautitude, Incorporeal, Almighty, Just, Merciful, Unbegotten, Infinite, Unchangeable, Without a beginning, Incomparable, The support and the Lord of all, All-pervading, Omniscient, Imperishable, Immortal, Exempt from fear, Eternal, Holy and the Cause of the Universe."

—*What is Arya Samaj Page 3.*

III. The God is Being present-intellect-happiness-like, Incorporeal, Almighty, Just, Merciful, Unbegotten, Infinite, Unchangeable, Without any-beginning, Incomparable, All-supporting, All-governing, All.pervading, Omniscient, Imperishable, Immortal, Fearless, Eternal, Holy and the Maker of the Universe. His alone worshipping is proper to do.

—*Our Translation.*

व्याख्या

यह आर्य्यसमाज का दूसरा नियम है। इसमें अन्वय की कुछ कठिनता नहीं और उसकी भाषा भी बहुत सीधी है। पहिले नियम में ईश्वर का संज्ञा-रूप से वर्णन किया गया है और अब इसमें उसका लक्षण कहा गया है अर्थात् वह ईश्वर ऐसा है:—

सच्चिदानन्दस्वरूप १=इस नाम से ईश्वर इसलिये कहलाता है कि— इस संज्ञा के तीनों शब्द "१ सत् २ चित् और ३ आनन्द" उसके विशेषण हैं। (अस भुवि) इस धातु से "सत्" शब्द सिद्ध होता है और उसका अर्थ "यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म" जो सदा वर्तमान अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों में जिसका बाध न होय वह "सत्" कहाता है। (चिती संज्ञाने) इस धातु से "चित्" शब्द सिद्ध होता है "यश्चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिन-स्तच्चित्परं ब्रह्म" जो चेतन स्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्या-सत्य का जनानेहारा है वह "चित्" है। (टुनदि समृद्धौ) आङ् पूर्वक इस धातु से "आनन्द" शब्द सिद्ध होता है "आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन् यद्वा यः सर्वाञ्जीवानानन्दयति स आनन्दः" जो आनन्दस्वरूप जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते हैं और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है वह "आनन्द" है। अतएव सत्+चित्+आनन्द+स्वरूप परब्रह्म परमात्मा है। समाजस्थ आर्यों को तो उनके ऐसे विशेषण वाले ईश्वर में कुछ संदेह नहीं है किन्तु अन्य आर्यों को कोई कोई लोग ऐसा समझा देते हैं कि समाजस्थों ने अपने मनमाने ईश्वर के लक्षण मान लिये हैं। अतएव हम अन्य आर्य बन्धुओं के जानने के लिये उनके ऐसे ग्रन्थों से कि जो प्रायः नित्य व्यवहार में आते हैं प्रत्येक लक्षण की तपास करके थोड़े-थोड़े प्रमाण दिखाते जायेंगे कि जिससे सर्वसाधारणों को ज्ञात हो जाय कि जो समाजस्थ मानते हैं उसकी साक्षी अन्य बन्धुओं के माननीय ग्रन्थ भी बराबर देते हैं:—

(१) सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ।।
—गोपालतापनी ।।

(२) ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः ।
—तत्त्वबोध ब्रह्मनिरूपणाध्याय ।।

(३) निर्गुणः सच्चिदानन्दः ।
—गुरुड़ पु० अ० १६ । ७ ।।

(४) सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ।।
—शंकराचार्य ।।

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम् ।।
—अध्यात्मरामा० ।।

निराकार २=आर्यसमाजस्थ तो "निर् और आङ् पूर्वक 'डुकृञ करणे', धातु से निराकार शब्द सिद्ध होता मानते हैं और इसका अर्थ यह करते हैं 'निर्गत आकारात्स निराकारः' जिसका आकार कोई भी नहीं और न कभी शरीर धारण करता है" । और अन्य बन्धुओं के पक्ष के कोष-कारों में से श्री ताराचरणतर्कवाचस्पति भट्टाचार्य्य जी ने अपने बृहद्संस्कृताभिधान में—"१ अवयवहीने, २ देहाद्याकारवर्जिते ब्रह्मणि च" अर्थ किये हैं और इन अर्थों के प्रमाण में नीचे लिखा पुराण का वाक्य दिया है:—

(१) तेजःस्वरूपो भगवान् निराकारो निराश्रयः ।।
—ब्रह्मवै० जन्मखं० ७ अ० ।।

और शब्दकल्पद्रुम नामक कोष में भी "निर्गत आकारो देहा दिदृश्यस्वरूपं यस्मादिति—परमेश्वरः" । ब्रह्म । यथाः—तेजः स्वरूपो भगवान् निराकारो निराश्रयः ।

निर्लिप्तो निर्गुणः साक्षी स्वात्मा रामः परात्परः ।।
ध्यायन्ति योगिनस्तं च शुद्धं ज्योतिः स्वरूपिणम् ।
हस्तपादादिरहितं निर्गुणं प्रकृतेः परम् ।।

—ब्रह्मवै० ।।

निर्विकारो निराकारो निरवध्योऽहमव्ययः ।।

—तत्वबोधे ।।

इस प्रकार से लिखा मिलता है ।

दोनों पक्षवालों के अर्थ हमको तो समान ही दीखते हैं और उनमें कुछ भूल भी नहीं है अर्थात् निराकार शब्द का अर्थ वास्तव में तो ऐसा ही है । तथा इस एक शब्द में ही बुद्धिमान् मनुष्य बहुत कुछ समझ सकता है कि साकार का अभाव निराकार है और निराकार का अभाव साकार है जो निराकार है वह ही साकार कदापि नहीं हो सकता और वैसे ही जो साकार है वह ही कदापि निराकार नहीं हो सकता है अर्थात् ये दोनों शब्द आपस में एक दूसरे के पूर्ण विरोधी हैं। भला कभी यह संभव है कि चेतन तो जड़ और जड़ चेतन हो जायेंगे । पुराणों ने तो ऐसा होना संभव माना है कि उनका निराकार ईश्वर साकार होकर संसार में जन्म लेता है और अनेक अद्भुत अपूर्व लीला करके भील तक के मारने से मर जाता है । किन्तु दत्तात्रेयजी ने यह कहा है:—

वदन्ति श्रुतयः सर्वा निर्गुणं शुद्धमव्ययम् ।
अशरीरं समं तत्त्वं तन्मां विद्धि न संशयः ।।२०।।
साकारमनृतं विद्धि निराकारं निरन्तरम् ।
एतत्तत्वोपदेशेन न पुनर्भवसंभवः ।।२१।।

—अवधूतगीता ।।

सर्वशक्तिमान् ३—आर्यसमाजस्थ आर्य लोग तो इसका अर्थ सर्वशक्तिवाला अर्थात् अपने करने का काम करने की ऐसी सब शक्ति रखनेवाला कि जिस में किसी अन्य का कुछ भी सहाय न लेना पड़े—"सर्वाःशक्तयो

विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः" (सत्यार्थप्र० पृ० २२) तथा "योऽस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्त्तुं गृह्णाति। यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यं नास्ति न चैवमीश्वरे" (ऋ० भू० पृ० ११) और यह लोग "सब धान बाईस पंसेरी, न्यायवत् शक्ति रखने वाले को परमेश्वर नहीं मानते हैं। और अन्य बन्धु "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः" करने योग्य और अन्यथा करने की सामर्थ्य रखने वाले को सर्वशक्तिमान् मानते हैं। यावत् मूर्त्तिपूजक और अनेक संप्रदायस्थ बन्धुओं का तो इस पिछले अर्थ में विश्वास है किन्तु संसार भर के अन्य सब विद्वान् इसको ठीक नहीं समझते हैं। क्योंकि सृष्टि में हम ईश्वर का कोई भी अन्यथा किया हुआ काम नहीं देखते हैं। ईश्वरीय सब व्यवहार यथावत् उसकी व्यवस्था के अनुसार चल रहे हैं। एक यह बात तो निःसन्देह है कि वर्त्तमान सृष्टि में ईश्वर का कोई काम अन्यथा नहीं देखते हुए पुराणों में तो उसके सम्बन्धी अनेक अन्यथा कथायें पढ़ने में आती हैं। परन्तु यह असम्भव और अयोग्य है कि उनको सब जगत् माने ही माने और जो न माने तो वह नास्तिक कहलावे। अन्य ग्रन्थों में यह कहा है:—

"य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान्-निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया सम्युनक्तु॥
—श्वेताश्वतर उप०॥

न्यायकारी ४=यह शब्द 'णीञ् प्रापणे' धातु से बना है और उसका अर्थ—"न्यायं कर्त्तुं शीलं यस्य स न्यायकारीश्वरः" अर्थात् जिसका न्याय अर्थात् पक्षपात रहित धर्म करने का ही स्वभाव है। और न्याय का लक्षण :—

प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। —वात्स्यायनभाष्य॥
तथा—पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः। —टीकादिवचन॥

3810

दयानन्द बहिनाम समाजस्थों ने ही ग्रहण नहीं कर लिया है किन्तु अन्य बन्धुओं के विष्णु सहस्रनाम में भी कहा है—

"अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान्=न्यायो नेता समीरणः" ॥

दयालु ५='दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु' धातु से बना है। "दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया, सा दया बहुली दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वरः" जो अभय का दाता सत्याऽसत्य सर्व विद्याओं को जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देने वाला है वह परमेश्वर दयालु नामक है। समाजस्थ दयालुता से यह नहीं मानते हैं कि चाहे जैसे पाप के कर्म क्यों न करो किन्तु स्तुति, प्रार्थना, याचना, समर्पण और प्रायश्चित्तादि के करने से दयालु ईश्वर हमारे पाप को निर्मूल कर देगा, किन्तु वह न्यायकारी है और न्याय में ऐसी दयालुता करने से अन्याय हो जाता है; इसलिये वह ऐसा कभी भी नहीं करता है, हमको अपने पापों का फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा, उसकी परम दयालुता यह है कि हमारे उपभोग के लिये उसने संसार में अनेक पदार्थ उत्पन्न किये हैं और हम को हमारे कर्त्तव्य में स्वतन्त्रता जैसा अमूल्य पदार्थ प्रदान कर रक्खा है ऐसे ही और अनेक पदार्थों को भी समझ लेना चाहिये। यह तो हर एक विद्वान् के ध्यान में आ सकता है परन्तु हमारे अन्य भाई जो पुराणों पर विश्वास रखते हैं वे तो ईश्वर की दयालुता वैसी ही मानते हैं कि जैसी अजामेल आदिक की कथा पौराणिक पुस्तकों में परम प्रसिद्ध है। वरन् उन पर निर्मल प्रज्ञा वाले विद्वानों को तो कदापि विश्वास नहीं आ सकता है। इस शब्द के प्रयोग के प्रमाण यह हैं :—

"हृदयस्थमनासन्नमव्ययं त्वां तपस्विनम्।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥१९॥
सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक्" ॥२०॥

—रघुवंशे।

कृपालोर्दीननाथस्य देवास्तस्यानुगृह्णते ।।

—भागवते ४।१२।५१

अजन्मा ६="न जायते नोत्पद्यते यः" जो स्वयं जन्म नहीं लेता है अर्थात् जन्म रहित अजन्मा कहाता है। इसका अर्थ तो उभय पक्ष वाले ऐसा ही करते हैं परन्तु इस अर्थ को समाजस्थ तो बड़ी दृढ़ता से मानते हैं, परन्तु अन्य मूर्त्तिपूजक आर्य कहते हैं कि उनका अजन्मा ईश्वर जन्म भी लेता है, यह बात भला क्यों कर ध्यान में आ सकती हैं कि दोनों अवस्था जो परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध हैं वह हों सकती हो, भला कभी यह भी सम्भव है कि रात तो दिन हो जाय और दिन की रात हो जाय, ऐसी बातें पौराणिक कथाओं में तो निःसंदेह वर्णन करी हुई हैं। किन्तु शिष्टों का उन पर विश्वास नहीं है, इसके विषय में जैसा समाजस्थ मानते हैं वैसा अन्य आर्यों की भी माननीय पुस्तकों में लिखा मिलता है :—

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोपि जगतः ।।६।।

—महिम्नः ।।

न हि जातो न जायेऽहं न जनिष्ये कदाचन ।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः ।।

—भारते ।।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।।

—भग० गीतायाम् ।।

अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।

—श्वेता २।१५ ।।

अनन्त ७="न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्" जिसका अन्त, अवधि और मर्यादा अर्थात् इतना लम्बा चौड़ा और छोटा बड़ा है ऐसा परिमाण नहीं है वह अनन्त कहलाता है। और ऐसा ही अर्थ शब्दकल्पद्रुम कोष में "नास्ति अन्तः सीमा विनाशो वा यस्य स विष्णुः" विष्णु के अर्थ में ग्रहण करके भागवत का यह प्रमाण दिया है :—

"लोके नष्टे द्विपरार्द्धावसाने भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः"
और बृहत्संस्कृताभिधान में—"नास्ति अन्तः गुणानां यस्य"
तथा "अन्तः परिच्छेदः देशतः कालतः वस्तुतश्च नास्ति यस्य":—

गन्धर्वाप्सरसः सिद्धाः किन्नरोरगचारणाः।
नान्तं गुणानां जानन्ति तेनानन्तोऽयमुच्यते ॥
—भविष्यपुराण ॥

न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः।
न वस्तुतोऽसि सर्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥
देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वं च मायया।
न देशादिकृतोऽन्तोऽस्ति ब्रह्मानन्तं ततः स्फुटम् ॥
—पंचदशी ॥

अतः परं नान्यदणीयसं हि परात्परं यन्महतो महान्तम्।
यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ॥
—तैत्तिरीयोपनिषद् १० प्र० ॥

जगत् प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ॥
—विष्णुस० ४ ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥
—भागवत० १०।२८।१५

यह भी ज्ञात रहे कि पौराणिक समय में इसी पर से कोई अनन्त नामक देव की कल्पना करके भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को व्रत करते हैं। और रेशम अथवा सुवर्णादि का एक अनन्त बनवा कर उसकी पूजा करके हाथ की बांह में बांधते और पहरते हैं और इसकी भविष्य पुराणान्तर्गत एक कथा भी है। उसमें प्रायः अनन्त देव के वह विशेषण लिये हैं कि जो परमात्मा के विशेषण हो सकते हैं।

निर्विकार ८—"निर्गतो विकारो विकृतिर्यस्मात्। विकारशून्य तथा जन्मादि-

षड्भावविकारहीनः" (देखो शब्दकल्पद्रुम और बृहत्संस्कृताभिधान-कोष) जिसको जन्मादि षड् विकार न हों वह निर्विकार कहाता है—

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्।
आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम् ॥

—अध्य

त्वयेह भवने मह्यं वस्तव्यं निर्विकारया ॥

—हरि०

सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते।

—

निर्विकारो निराकारो निरवध्योऽहमव्ययः ॥

—तत्त्

निर्विकारः परात्परः ॥

—गरुड़पुराण अ० १६।

अनादि ६="न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः" जिसका कारण कोई भी नहीं है उसको अनादि कहते हैं। अन्य कोषकार भी "नास्ति आदिः कारणं यस्य सः। आदि रहितः। उत्पत्तिशून्यः। स्वयम्भूः। आदिः कारणं पूर्वकालो वा, स नास्ति यस्मिन् परमेश्वरे। नास्ति आदिः प्राथमिको यस्मात्"। इसके प्रमाण यह हैं :—

जगदादिरनादिस्त्वम् ॥

—कुमा० ॥

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं प्रचक्षते ॥

—हरि० ॥

अनादिनिधिना देवी वागुत्सृष्टा स्वयंभुवेति ॥

—पुरा० ॥

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ॥

—विष्णुसह०।

अनादित्वात् निर्गुणत्वादिति ॥

—गीता ॥

अनादिरादिर्गोविंदः सर्वकारणकारणम् ॥

—ब्रह्मसंहिता ॥

स्वयंज्योतिरनाद्यन्तो ॥

—गरुड़पु० अ० १६ । ७ ॥

नादिनिधनं भूतं विश्वमव्ययमक्षयम् ।
कर्त्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ॥

—भा० वनप० १८८ । २० ॥

=अन्य कोषकार भी "नास्ति उपमा सादृश्यं यस्य सः तथा अतुल्ये ागादृश्यरहिते अत्युत्कृष्टे"

इ अर्थ करते हैं कि उपमा रहित अर्थात् जो अत्युत्कृष्ट है ।

जाबालिदर्शनोपानिषत् आदि में कहा है :—

या स्थूलमनाकाशम्, असंस्पृश्यमचाक्षुषम् ।
रसं न च गन्धाऽऽख्यम्, अप्रमेयमनूपमम् ॥

—जाबालउ० खं० ६।४॥

सर्वाधार ११=अन्य कोषकारों में से बृहत्संस्कृताभिधानवाले ने कहा है "सर्व्वाधारशक्तिरूपायां परमेश्वरशक्तौ" जो विश्वभर का आधार शक्ति-रूप है वह परमेश्वर है :—

सर्वाधारमनाधारं स्वमात्रत्रैपदाक्षरम् ॥

—अथर्वशिर उ० ॥

सर्वाधारं सर्वबीजं सर्वज्ञं सर्वमेव च ॥

—ब्रह्मवै० अ० २८ । ६२ ॥

सर्वेश्वर १२=यह स्पष्ट है अर्थात् सबका ईश्वर । उसके विषय में कहा है :—

अयं यत् सृजति विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ।
न कोपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इति श्रुतः ॥
नारायणमात्मानं ज्ञात्वा सर्गस्थितिप्रलयहेतुम् ।
सर्वज्ञः सर्वभूतः सर्वस्सर्वेश्वरोऽभवत् ॥

—शब्द चिंतामणि पृ० ७८४।

अतः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिसर्वादिरच्युतः ॥

—विष्णु सं० २४ ॥

सर्वेशो निर्मलोऽद्वयम् ॥

—गरुड़पु० अ० १६ । ६ ॥

सर्वेश्वरं सर्वपूज्यं सर्वसिद्धिकरप्रदम् ॥

—ब्रह्मवै० अ० २८ । ६३ ॥

र्वव्यापक १३=यह भी स्पष्ट है, सब जगत् में जो व्यापक हो रहा है वह ईश्वर है। इसके विषय में कहा है :—

एको देवः सर्वभुतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥

—श्वेताश्वतर० अ० ६॥

आकाशमिव विस्तीर्णं सर्व्वव्यापकमव्ययम् ॥

—ब्रह्मवै० अ० २८ । १६ ॥

सर्वव्यापि च सर्व्वादिलक्षणं च श्रुतौ श्रुतम् ॥

—ब्रह्मवै० अ० २८ । ३५ ॥

र्वान्तर्यामी १४=अर्थात् सब के अन्तर की जाननेवाला सर्वज्ञ और सर्वात्मा। यथा ;

सर्वान्तरात्मा सर्वज्ञः प्रत्यक्षः सर्वगः स्मृतः।

—ब्रह्मवै० अ० २८ । ६५ ॥

अजर १५="नास्ति जरा जीर्णावस्था यस्य सः" जो जीर्ण नहीं होता अर्थात् क्षीण नहीं होता वह जरारहित अजर कहाता है। इस नाम से ईश्वर को नीचे के प्रमाण में ग्रहण किया है :—

"स होवाच। एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमणवह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति कंचन न तदश्नाति कश्चन" ॥

—शतपथ कां० १४ । अ० ६ कं० ८॥

"वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्" ॥
—श्वेता० अ० ३।२१।

अमर १६='मरणशून्येति। तथा मरणधर्म्मरहितः" जिसको मरणधर्म्म हो ह नहीं और सदैव वर्त्तमान रहे। (अजर का प्रमाण देखो) स्पष्ट है ॥

अभय १७="नास्ति भयं यस्मात् तत् तथा भयाभावे, भयशून्येति, भयरहितः जिसको भय धर्म्म हो ही नहीं अर्थात् भयरहित। स्पष्ट है। (अजर क प्रमाण देखो)

तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मा भयम् ॥ इत्यादि। —नृसिंहतापनी उ०।

नित्य १८="यो नित्यध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः" जो निश्चल अविनाशी है वह "नित्य" है। इसके प्रमाण :—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिंपरिपश्यन्ति धीराः।
—मुंडको० १।६।

आत्मा नित्यो हि सद्रूपः।
—तत्त्वबोधे ॥

नित्यं तत् परमं ब्रह्म नित्या च प्रकृतिः स्मृता ॥
—ब्रह्मवै० २८।३०

पवित्र १९=(पू+इत्रः अथवा पू+कर्त्तरि इत्रः) जो स्वयं परम पवि और दूसरों को भी अपने ज्ञान के द्वारा पवित्र करे। इसके प्रमाण :-

पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम् ॥
—वि० स० १०

प्रभूतस्त्रिककुब्धाम पवित्रं मंगलं परम् ॥
—वि० स० २०

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
—गीता अ० १

सृष्टिकर्त्ता २०=यह स्पष्ट है अर्थात् जगत् का करनेवाला निमित्त कार

यथा :—

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य सृष्टारमनेकरूपम् ।

—श्वेता० अ० ४।१४।।

शुभांगः शान्तिदः स्रष्टा कुमदा कुवलेशयः ।।

—वि० स० ७६ ।।

सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च ।।

—गरुड़पु० अ० १६ ।६ ।।

सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु, गन्धर्वोरगराक्षसान् ।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यत्ममायया ।।

—भारते वन० १८६।३० ।।

इस नियम के अन्त में जो एक पंक्ति "उसी की उपासना करनी योग्य है" वह सदा ध्यान में रखने योग्य है उसमें यह उपदेश किया गया है कि जिस ईश्वर की संज्ञा और लक्षण प्रथम और द्वितीय नियम करके प्रकाश किये गये हैं उसी की उपासना मनुष्यमात्र को करनी योग्य है। और इसका यह भी अभिप्राय है कि जो ऐसा न हो उसको न तो ईश्वर मानना चाहिए और न उसकी उपासना करनी चाहिए। आर्यसमाजस्थ तो अपने इन दो नियमों के अनुसार ऐसा ईश्वर मान बैठे हैं कि जिसमें संसार भर के सब बुद्धिमान् मनुष्य एकमत हो सकते हैं और उनके ईश्वर का खण्डन तब हो सकता है कि जब कोई उनके विरुद्ध यह सिद्ध करे :—

१—ईश्वर जीव और जगत् अर्थात् विश्वभर का आदिमूल परमेश्वर नहीं है ।।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता नहीं है ।।

खण्डन करने के समय यह अच्छी तरह ध्यान में रखने की बात है कि सिद्धान्तान्तर्गत प्रकरण को नेत्र के सामने रक्खे और उससे भिन्न इधर-उधर न जाय। जैसे समाजस्थ आर्य मानते हैं कि उनका ईश्वर "सच्चिदानन्दस्वरूप" है, तो प्रतिवादी को खण्डन कर सिद्ध करना चाहिए कि उसका "असत्+अचित्

+अनानन्द+स्वरूप" है, "निराकार" नहीं वह "साकार" ही है, "सर्वशक्तिमान्" नहीं वह "अशक्तिमान्" अथवा "थोड़ी+शक्तिवाला" है, "न्यायकारी" नहीं किन्तु "अन्याकारी" है इत्यादि इत्यादि। तब तो इन दोनों नियमों का खण्डन हुआ माना जा सकता है और जो ऐसा न करके कुतर्क करना वह कुतर्क ही करना है। इसमें कोई लज्जा की बात नहीं है कि जैसा अपने ज्ञान में आया हो उसको वैसा ही प्रकाश कर देना। देखो यूरोप में कितनेक ऐसे भी विद्वान् हैं कि वे ईश्वर को नहीं मानते हैं। तो वे स्पष्ट कहते हैं कि हम नहीं मानते हैं। वैसे ही आर्यसमाज जैसा ईश्वर मानते हैं वैसा उन्होंने अपने प्रथम और द्वितीय नियमों में स्पष्ट विदित कर दिया है।

जैसे हमने ईश्वर के लक्षण के प्रत्येक विशेषणों को हमारे दूसरे प्रिय बन्धुओं के माननीय ग्रन्थों से निश्चय किये हैं, वैसे ही उस ग्रन्त की पंक्ति 'उसी की उपासना करनी योग्य है" की भी कुछ तपास करते हैं। इसकी तपास यों होगी। मानो कोई पुरुष विद्वान् जिज्ञासु उपासना ग्रहण करने के लिए शोध करता है :—

१—प्रथम उसने पौराणिक श्रीगणेश भगवान् की उपासना करने का विचार किया और Professor Monier William's लिखित Brahmanism and Hinduism Page 212 और पद्मपुराण को खोलकर पढ़े तो उनमें मनुजी आदि के नाम से यह वाक्य लिखा मिला :—

विप्राणां दैवतं शंभुः क्षत्रियाणां तु माधवः।
वैश्यानां तु भवेद् ब्रह्मा शूद्राणां गणनायकः॥

इसको पढ़ते ही वह जिज्ञासु चमक गया कि यह क्या बात है। और कहने लगा कि मैं सब ब्राह्मणों में भी बड़ा कुलीन ब्राह्मण हूँ इसलिए शूद्रों के उपास्य देव की उपासना क्योंकर कर सकता हूँ॥

२—फिर उसने पौराणिक विष्णु भगवान् की उपासना करने के विचार से शिवपुराण को हाथ में लेकर अच्छी तरह पढ़ा तो पढ़ते-पढ़ते यह श्लोक उसको दृष्टि पड़ा :—

मूल—विभूतिर्यस्य नो भाले नांगे रुद्राक्षधारणम्।
न हि शिवमयी वाणी तं त्यजेदन्त्यजं यथा॥

भाषा—जिसके माथे पर विभूति नहीं और अंग में रुद्राक्ष का धारणा नहीं

वाणी से शिव शिव जो नहीं करता वह अन्त्यज की नाईं त्याज्य है। इसको पढ़ने पर वह फिर चमका और अपने मन में यह कहने लगा कि शिव के अतिरिक्त और उपासना तो इससे अधम पाई जाती है ॥

३—इस पर इसने विचार किया कि श्रीमद्भागवतजी की कथा सर्वत्र बंचती है और अनेक श्रोता एकत्र हो सुनते हैं भला देखें तो सही कि विष्णु सम्प्रदाय के ग्रन्थों में क्या-क्या लिखा है। श्री भागवतजी में उसको यह मिला :—

मूल— भवव्रतधरा ये च ये च तां समनुव्रताः ॥
पाषंडिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥
मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ॥
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥

भाषा—जो शिव की सेवा करें और उसके मत पर चलनेवालों की बात मानें अर्थात् शैवमत पर चलें वे सत्य शास्त्र के शत्रु और पाखण्डी हैं। मुमुक्षुओं को भयानक भूतपति को छोड़ शान्तस्वरूप नारायण को भजना चाहिए ॥

मूल— ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्य श्मशानसदृशं मुखम् ॥
अवलोक्य मुखं तेषामादित्यमवलोकयेत् ॥
ब्राह्मणः कुलजो विद्वान् भस्मधारी भवेद्यदि ॥
वर्जयेत् तादृशं देवि मद्योच्छिष्टं घटं यथा ॥

—पद्मपुराणे

भाषा—जो ऊर्ध्वपुण्ड्र नहीं लगाता उसका मुख श्मशान के सदृश हजाकाई उसका मुख देख ले तो वह सूर्य का दर्शन करने से शुद्ध होता है। जो ब्राह्मणकुल का विद्वान् भस्मधारी हो तो हे देवी! उसको मद्य के झूठे घट की तरह त्याग देवे ॥

४—तदनन्तर उसने और भी चमक कर दूसरे ग्रन्थ हाथ में लिए और उन को बड़ा ध्यान देकर पढ़ने लगा क्योंकि दूध का जला छाछ को फूंक-फूंक कर पिया करता है :—

मूल—यस्तु सन्तप्तशंखादि लिङ्गचिह्नधरो नरः।
स सर्वयातनाभोगी चाण्डालो जन्म कोटिषु ॥

—पृथ्वीचन्द्रोदय

भाषा—जो मनुष्य तपे हुए शंखादि चिह्नों को धारण करता है वह सर्व नरक यातनाओं को भोगता है और कोटि जन्म पर्यन्त चांडाल होता है ।।

मूल—द्विजस्तु तप्तशंखादिलिङ्गांकिततनुं नरम् ।।
संभाष्य रौरवं याति यावदिन्द्राश्चतुर्दश ।।
शंखचक्राद्यंकनं च गीतनृत्यादिकं च यत् ।
एकजातेरयं धर्मो न जातु स्याद्द्विजन्मनः ।।
शंखचक्रे मृदा यस्तु कुर्य्यात्तप्तायसेन वा ।।
स शूद्रवत् बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विज कर्मणः ।।
यथा श्मशानजं काष्ठमनर्हं सर्वकर्मसु ।
तथा चक्रांकितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः ।।
शिवकेशवयोरंकाच्छूलचकादिकान् द्विजः ।
न धारयेत् मतिमान् वैदिके वर्त्मनि स्थितः ।।

—बृहन्नारदीये

भाषा—जो द्विज तप्त शंखादि से अंकित हुए मनुष्य से संभाषण करे तो चौदह इन्द्रपर्यन्त रौरव नरक में जाते है । शंख चक्रादि से अंकन कराना गाना और नृत्य करना द्विज का धर्म नहीं है वरन् शूद्रों का है । जो शंख चक्रों के चिह्न अपने शरीर में मट्ठी अथवा तप्त लोहे से करत है वह शूद्रवत् सब द्विजकर्मों से बाहर करने योग्य है। जैसे श्मशान की लकड़ी सब कर्मों में अग्राह्य है वैसे ही चक्र से अंकित हुआ विप्र भी सब कर्मों के अयोग्य है । वैदिक मार्ग में स्थित हुआ बुद्धिमान् द्विज शिव और विष्णु के हथियार त्रिशूल और चक्रादिकों के चिह्नो को न धारण करे ।।

—इस पर उसके मन में बड़ी ही चिन्ता हुई कि हमारे देश के मत-मतान्तरों का यह क्या हाल है कि एक दूसरे की ऐसी धूल उड़ाते हैं और परस्पर भला बुरा कहते हैं । चिन्ता करते-करते उसने फिर पद्मपुराण को खोलकर देखा तो उसमें यह निकला :—

मूल— यक्ष राक्षस भूताद्यकूष्मांडागणभैरवाः ।।
नार्चनीयाः सदा देवि ! विष्णुलोकमभीप्सुभिः ।।
रजस्तपोभिभूतानाँ अर्च्चनं प्रतिषिध्यते ।

रौरवं नरकं यान्ति यक्षभूतगणार्च्चनात् ॥

—पद्मपुराणे

भाषा—यक्ष राक्षस भूतादि कूष्मांडगण भैरव की अर्चा, हे देवी ! विष्णुलोक की इच्छावाले को नहीं करनी चाहिए। रजोगुणी और तमोगुणी भूतों की भी अर्चा का निषेध है क्योंकि यक्ष भूतगण के अर्चन से मनुष्य रौरव नामक नरक में जाता है।

६—इतना मतमतान्तर सम्बन्धी ज्ञान होने पर उसने विचारा कि प्रत्येक मतवाला एक दूसरे को पाखण्डी बतलाता है यह एक बड़े आश्चर्य की बात है, भला देखें तो सही कि वास्तव में पाखंडी किसे कहते हैं, उसने कोषों की पुस्तकें हाथ में लेकर भले प्रकार विचार कर निश्चय किया तो उसे यह ज्ञात हुआ कि "पाः वेदधर्म्मस्तं खंडयति निष्फलं करोति"। और पद्मपुराण लेकर देखा तो उसमें उसको नीचे लिखा एक अध्याय-का-अध्याय ही मिल गया कि जिसमें अनेक प्रकार के पाखंडियों का वर्णन किया है :—

येऽन्यदेवं परत्वेन वदन्त्यज्ञानमोहिताः।
नारायणाद् जगद्वंद्यात् ते वै पाषंडिनस्तथा ॥
कपालभस्मास्थिधरा ये ह्यवैदिकलिंगिनः।
ऋते वनस्थाश्रमांश्च जटावल्कलधारिणः ॥
अवैदिक क्रियोपेताः ते वै पाषंडिनस्तथा ॥
शंखचक्रोर्ध्वपुण्ड्रादिचिह्नैः प्रियतनैर्हरेः ॥
रहिता ये द्विजा देवि ! ते वै पाषंडिनो मताः।
श्रुतिस्मृत्युक्तमाचारं यस्तु नाचरति द्विजः ॥
स पाषंडीति विज्ञेयः सर्वलोकेषु गर्हितः।
समस्तयज्ञभोक्तारं विष्णुं ब्रह्मण्यदैवतम् ॥
उदस्य देवतान्येभ्यो जुहोति च ददाति च।
स पाषंडीति विज्ञेयः स्वतंत्रो वापि कर्म्मसु ॥
स्वातंत्र्यात् क्रियते यैस्तु कर्मवेदोदितं महत्।
विना वै भगवन् प्रीत्या ते वै पाषंडिनः स्मृताः ॥
यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः।
समत्वेनैव जानाति स पाषंडी भवेत् सदा ॥

अनास्था क्रियते यैस्तु मनोवाक्कायकर्मभिः ।
वासुदेवं न जानाति स पाषंडी भवेत् द्विजः ।।
हरेर्नामकमंत्राभ्यां लोकाः सद्धिर्विवर्जिताः ।
यदि वर्णाश्रमाद्या ये ते वै पाषंडिनः स्मृताः ।।
वर्णानां गुरवो नित्यं शिवे ! यद्यप्यवैष्णवाः ।
भगवद्धर्मरहिता वैष्णवादिविनिन्दकाः ।।
रजस्तमोमया जीवा हिंसका जीवभक्षका ।
असत्प्रतिग्रहरता देवला ग्रामयाजकाः ।।
भ्रष्टाचारास्तथा व्रात्या नानाविबुधपूजकाः ।।
देवतोच्छिष्टश्राद्धादिभोजिनः शूद्रवत्क्रियाः ।।
विविधासत्कर्मरता भक्षणाद्यविचारिणः ।
लोभमोहमदक्रोधकामाहंकारिणः सदा ।।
एवंविधाः पारदारिकाद्या येऽत्र शुभानने ।
अन्येषां का कथा तत्र पाषंडा ब्राह्मणः स्मृताः ।।
वर्णश्रमाद्या ये मर्त्याः स्वस्वधर्मविवर्जिताः ।
ते वै पाषंडिनो देवि ! नारायणबहिर्मुखाः ।।
सर्वाशिनो द्विजा येऽपि सर्वविक्रयिणस्तथा ।
ये वेदाचाररहिताः ते वै पाषंडिनो मताः ।।
ये त्वसद्भक्षणपानादिरता लोका निरन्तरम् ।
शिवे ! पाषंडिनो ज्ञेया इह नास्त्यत्र संशयः ।।
विष्णुवैष्णवगोभूमिदेवादिषु विशेषतः ।
अश्वत्थतुलसीतीर्थक्षेत्रादिषु महागुरौ ।।
लक्ष्मीसरस्वतीगंगायमुनासु वरानने ।
स्मृताः पाषंडिनस्तेऽपि ये न सेवापरायणाः ।।
रुद्राक्षेन्द्राक्षभद्राक्षस्फटिकाक्षादिधारिणः ।
जटिला भस्मलिप्तांगाः ते वै पाषंडिनः प्रिये ।।
असिजीवी मसीजीवी धावकः पाचकस्तथा ।
एते पाषंडिनो विप्रा मादकद्रव्यभोजिनः ।।
देवि ! कार्ष्णादयो भक्ता अनन्यशरणास्तु ये ।

पाषंडसंगं न कुर्युः तद्गेहे पानभोजने ।।
तत्स्पर्शजलपानं च चक्रुरस्तदसंगमादिकम् ।
तत्पानभोजनालापसंगालिंगनतोऽचिरात् ।
पाषंडिनो वैष्णवाः स्युः अन्येषामपि का कथा ।।
किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा ये ह्यवैष्णवाः ।
असदाचरणाश्चेत् स्युः तदा पाषंडिनः स्मृताः ।।
एतद्भोजनपानादिकर्मभिर्वैष्णवा जनाः ।

—पाद्मोत्तरखंडे पाषंडाचरणे नाम ४२ अ०

उसको विचारते-विचारते यह स्मरण आया कि जब हमारा पज्ञोपवीत हुआ था तब गायत्री मंत्र का हमको उपदेश किया था और उसकी उपासना हम अबतक बराबर करते हैं अतएव देखना तो चाहिए कि उसका भी खंडन क्या कहीं लिखा है। इसका खंडन उसको कहीं भी नहीं मिला किन्तु उल्टा नीचे लिखा मंडन हाथ लगा :—

न विष्णूपासना नित्या वेदेनोक्ता तु कुत्रचित् ।
न विष्णुदीक्षा नित्यास्ति शिवस्यापि तथैव च ।।
गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता ।।
यया विना त्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा ।।
तावता कृतकृत्यत्वं नान्यापेक्षा द्विजस्य हि ।
गायत्रीमात्रनिष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात् ।।
कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्यात् इति प्राह मनुः स्वयम् ।
विहाय तान्तु गायत्रीं विष्णूपास्तिपरायणः ।।
शिवोपास्तिरतो विप्रो नरकं याति सर्वथा ।
तस्मादाद्ययुगे राजन गायत्रीजपतत्पराः ।।

—देवीभागवते

इतनी तपास करने पर उस विद्वान् जिज्ञासु के ध्यान में इतना तो आया कि जितने पौराणिक देवता हैं उनकी उपासना के विषय में एक दूसरे पुराण में खंडन लिखा मिलता है परन्तु गायत्री की उपासना के विषय में कहीं भी खंडन नहीं लिखा है, अतएव अबतक जो मैं उसकी उपासना करता रहा हूँ सो

मैंने कुछ अन्यथा नहीं किया है, गायत्री के विषय में इतना तो झगड़ा निःसंदेह है कि उसके अनेक मतवाले अनेक अर्थ करते हैं परन्तु यह कोई बड़ी बात नहीं है, मैं आप संस्कृत भाषा को अच्छी तरह जानता हूँ और अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं में भी अच्छा विद्वान् हूं, सो अर्थ का निश्चय जो कोई पूर्ण गुरु न भी मिला तो भी अपने आप कर लूँगा किन्तु उपास्य देव के विषय में अभी तक उसको पूर्ण निश्चय नहीं हुआ था, इसके विचार में वह अनेक मतवाले विद्वानों से वादविवाद करता और अनेक पौराणिक पुस्तकों को पढ़ता और जहाँ तहां भटकता हुआ एक दिन अकस्मात् आनन्दवाटिका में जा निकला, वहाँ वह क्या देखता है कि एक पत्थर की चौकी पर एक बड़ा विशालमूर्ति संन्यासी अपने सब शरीर पर मिट्टी लगाए हुए दिगम्बर बैठा हुआ है और उसके पास पानी पीने का कमंडलु तक भी नहीं है, उसके सामने कई एक विद्वान् बैठे हैं और संस्कृत भाषा में पौराणिक मतमतान्तरसम्बन्धी वादविवाद हो रहा है। यह जिज्ञासु उस केशरी के समान बैठे हुए और धाराप्रवाह संस्कृत भाषा को बोलते हुए तो क्या किन्तु दहाड़ते हुए संन्यासी को देखकर मन से प्रसन्न हुआ, जब अन्य विद्वान् अपना वार्त्तालाप कर चुके तब उस महर्षि के चरणों में इस जिज्ञासु ने शिर रखकर प्रणाम करी और उन्होंने आशीर्वाद देकर उसके समाचार पूछे, उसने आदि से लेकर अन्त तक का सब वृत्तांत निवेदन करके यह प्रश्न किया कि—महाराज! किसकी उपासना करनी योग्य है। इस महर्षि ने तुरन्त ही उत्तर देकर कहा, "जो ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि,, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है" यह सुनते ही वह जिज्ञासु बड़ा ही प्रसन्न हुआ और यह कहता हुआ—सत्य है, महाराज सत्य है, आपको धन्य है; मैंने आपके इतने ही उपदेश करने में आपके अन्तःकरण में जो सत्य-विद्या और पदार्थविद्या हैं उनको भले प्रकार समझ लिया है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि ऐसा ही ईश्वर उपासनीय है, अब आप कृपा करके मुझे बतलावें कि सब सत्य विद्या का पुस्तक कौनसा है? महर्षि ने उत्तर देकर कहा

कि—संसार में जो बड़े लम्बे-चौड़े नामवाले पुस्तक हैं वैसा तो उसका नाम नहीं है किन्तु केवल दो अक्षरों का नाम "वेद" है, उसको तू पढ़ और अनेक सत्यविद्या के बीज उसमें तुझको मिलेंगे। वह जिज्ञासु साष्टांग प्रणाम करके अपने घर आया और वेद और उसके सम्बन्धित अनेक पुस्तकों को लेकर पढ़ने और विचारने लगा। इत्योम् ॥

तीसरा नियम THIRD COMMANDMENT

मूल=TEXT

(३) वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।।

Different Translations.

I. The Vedas are the books of true knowledge. It is the duty of all the Aryas to read, teach, hear and recite them.

—*Triumph of Truth page 99.*

II. The Vedas are the Books of true knowledge, and it is the paramount duty of every Arya to read or hear them read, to teach and preach them to others.

—*What is Arya Samaj page 3.*

III. Veda is a book of all true knowledge. Its reading, teaching, hearing and preaching is the chief duty of all the Aryas.

—*Our Translation.*

व्याख्या

पहिले दो नियमों में ईश्वर की संज्ञा और लक्षण का वर्णन करके अब इस नियम से उस शास्त्र का आदेश किया गया है कि जिससे हम लोगों को उस आदि मूल और इस कार्यरूप संसार का ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है, इस विषय का आदि शब्द "वेद" है और उसका विषय भी यही है ।

इसमें आर्यसमाजस्थों के साथ अन्य सब सहमत है कि वेद शब्द विद्ज्ञाने, विद्—सत्तायाम्, विद्लृ—लाभे और विद्—विचारणे, इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय करने से बनता है और उसका अर्थ यह होता है—"विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः" कि जिनके पढ़ने से यथार्थ विज्ञान होता है, जिनको पढ़कर विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है—इससे उसकी वेद संज्ञा है ।।

जैसे ईश्वर का निज नाम "ओ३म्" प्रणव है, वैसे ही इस परमोत्कृष्ट

नशास्त्र का निज नाम "वेद" है और उसके पर्य्याय नाम अनेक हैं, जैसे—ति, मन्त्र, छन्द, वाणी, ब्रह्म, आम्नाय और निगम आदि ॥

वह अपनी संज्ञा करके तो संख्या में एक ही है और इसी से वह इस नियम में एक वचन से ग्रहण किया गया है, इसकी साक्षी यह पौराणिक वाक्य भी देता है :—

"एक एव भवेद्वेदश्चतुर्वेदः पुनः कृतः"

—देवीपु० ८ अ० ॥

परन्तु वह अर्थभेद करके चार विभागों में ठेठ से ही विभक्त है और इसी से उसके चार पृथक्-पृथक् नामों की गणना हुई है जैसे :—

ऋग्वेद १, यजुर्वेद २, सामवेद ३ और अथर्ववेद ४। कितनेक लोग आजकल स्मृति और पुराणादिक के वाक्यों के आधार पर यह कुतर्क किया करते हैं कि वेद तीन ही हैं और चौथा कोई है ही नहीं। सो यह उनका अज्ञान है क्योंकि यह नीचे लिखा मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों में एकसा और ऐसा ही अथर्व में भी लिखा है जो चाहे वह देख ले और इन मंत्रों के अर्थ से उक्त चार ही वेदों का होना सिद्ध होता है :—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदाँऽसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

ऋ० मं० १०। अ० ७। सू० ९०मं० ९ ॥ यजु० अ० ३१। मं० ७ ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानियस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भन्तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

अथर्व० का० १०। प्र० २३। अनु० ४। मं० २० ॥

यदि इस स्वतः प्रमाण के प्रतिकूल कहीं कुछ लिखा मिले तो वह ठीक नहीं समझा जा सकता है, तथा जहाँ कहीं वेदत्रयी के विषय में लिखा मिलता है वहाँ उसका अभिप्राय समझना चाहिए। जैसे कि मनुजी ने जहाँ त्रयीयों का वर्णन किया है वहाँ वेदत्रयी भी कही है, किन्तु उसका अभिप्राय जो वादी समझता है वह वास्तव में नहीं है, अतएव निर्भ्रान्त होकर मानना चाहिए कि वेद चार ही हैं और उनका क्रम भी जैसे हमने ऊपर कहा है वैसा ही है अर्थात् वे उलट-पुलट क्रम से नहीं हैं।

इस बात को आजकल के छोटे-छोटे बालक भी जानते हैं कि जिस विद्य की जो पुस्तक होती है उसका नाम उस विद्या का सूचक होता है, जैसे— रेखागणित, बीजगणित, अंकगणित, भूगोल, इतिहास और ज्योतिष आदि किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता है कि पुस्तक का नाम 'तो मानो ओषधि कं विद्या का सूचक हो और उसमें विषय संगीत विद्या का निकले। निदान हम भली भाँति समझ सकते हैं कि जब जिस धातु से वेद शब्द बना है उसक अर्थ—ज्ञाने है—तब उसके ज्ञानशास्त्र होने में क्या सन्देह है. इसको मानकर हम एक यह शंका तो चाहे कर सकते हैं कि वह किस विद्या के ज्ञान का शास्त्र है ? इसका उत्तर भी हम अपने आप दे सकते हैं कि उसका कर्त्ता सर्वज्ञ ईश्वर है और उसने उसको उस समय प्रकाश किया है कि जब कोई भी ज्ञान क पुस्तक नहीं था और उसके प्रकाश होने पर ही वह अनेक विद्याओं के प्रकाश का कारण होगा अतएव वह तीनों काल में जो-जो विद्या संसार में प्रकाश कं प्राप्त होती हैं उन सब का बीज रूप ज्ञानशास्त्र है। इसी के साथ यह भी ध्यान में रख लेना चाहिये कि जब वेद ऐसा परमोत्तम विद्या का पुस्तक है तब भला उसमें वह सब अयुक्त, असंभव और असत्य बातें क्योंकर हो सकती हैं कि जिनको हमारे हिन्दू आर्य बन्धु उसमें होना मान रहे हैं।

इसमें कुछ संदेह नहीं है कि वेद में सब सत्य विद्या ही का प्रकाश किय गया है। निदान उसके चारों विभागों में नीचे लिखे प्रमाण विद्या का वर्णन है:—

ऋग्वेद—यह "ऋच्=स्तुतौ" धातु से बना है। और उसका अर्थ "ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावाननया सा ऋक् चासौ वेदश्चर्ग्वेदः' है। जिससे सब पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभावों का वर्णन किय जाय वह ऋक् और सत्य-सत्य ज्ञान का हेतु वेद है। उसमें गुण और गुणी के ज्ञान का प्रकाश किया है क्योंकि सब से पहिले मनुष्य कं इस ही ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसलिये इसकी सबसे पहिले गणना की गई हैं।

यजुर्वेद—यह "यज=देवपूजासंगतिकरणदानेषु" धातु से बना है। इसमें जिन पदार्थों के गुणों का ज्ञान ऋग्वेद से होता है उनका उपयोग जिस क्रिया विद्या से होता है उस क्रियाकांड का प्रकाश इसमें किया गया है अतएव इसकी दूसरी गणना करी गई है।

ाद—यह "षो=अन्तकर्मणि" धातु से बना है। पदार्थों के गुण ज्ञान के अनन्तर क्रिया रूप उपकार करके जो फल प्राप्त होता है, वह कितना और कहाँ तक होना चाहिये, इस विद्या का विधान इसमें किया गया है। इसीसे उसकी तीसरी गणना हुई है।

थर्ववेद—यह "थर्वतिश्चरतिकर्मा" धातु से बना है। पूर्वोक्त तीनों में जो-जो विद्या प्रकाश की गई हैं उन सब के शेष भाग की पूर्ति का विधान उन सब की रक्षा और संशय निवृत्ति इसमें की गई है। अतएव इसको चौथा गिना है।

इस वेद विद्या के प्रकाश होने के पीछे जो बड़े-बड़े आप्त ऋषि मुनि उत्पन्न ोते गये उन्होंने उसको प्रथम आप प्राप्त करके फिर उस पर से अनेक सत्य-द्याओं का अन्वेषण किया और सर्वसाधारणों के सुबोध के लिये चार उपवेद, : अंग और छः उपांग और अनेक व्याख्या ग्रन्थ बनाये कि जो अब तक हमारे ं में उपस्थित हैं और जिनको हम परतः प्रमाणरूप मानते हैं। यह अन्वेषण महात्माओं ने उसी प्रकार से किया था कि जैसे किसी विद्या का षण आजकल के विद्वान् करते हैं। देखो जिस भाषा का कोई व्याकरण होता है उसका हम उस भाषा पर से अन्वेषण करके आजकल भी बना हैं, इसी प्रकार से हमारे पुरुषा ऋषियों ने भी अनेक विद्याओं को वेदों पर न्वेषण करके प्रकाश करी हैं, उनके और हमारे अन्वेषण में केवल इतना र तो अवश्य है कि वे तो अनेक दुराग्रहों से रहित, पूर्ण विद्वान् और आप्त थे और हम लोग उनकी संतान अनेक दुराग्रहों से ग्रस्त, अधूरे और छल ादि दोष सहित विद्वान् हैं। हमारी और उनकी ग्रन्थ रचना में एक यह र तो हम आदि में ही देख सकते हैं कि उनके मंगलाचरण "ओ३म्" और " शब्दों में ही हो जाते थे और हमारों के लिये पृष्ठ-के-पृष्ठ चाहियें, वें र्थक एक शब्द भी नहीं प्रयोग करते थे और हम जो हमारे निरर्थक को ार्थक समझते हैं और उन महात्माओं के लेखों में भी भूल काढ़ने को उद्यत हैं। हमने जो पहिले यह कहा है कि वेदों पर से अन्वेषण होकर सब ग्र बने हैं उसमें किसी को कुछ संदेह नहीं करना चाहिये किन्तु ध्यान में ा उचित है कि यह पौराणिक वाक्य भी हमारे कहने की कुछ साक्षी है:—

ऋग्यजुः सामाथर्व्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः ।
विचिन्त्य तेषामर्थं चैवायुर्वेदं चकार सः ॥९॥
कृत्वा तु पचमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः ।
स्वतन्त्रसंहितां तस्माद्भास्करश्च चकार सः ॥१०॥
भास्करश्च स्वशिष्येभ्य आयुर्व्वेदं स्वसंहिताम् ।
प्रददौ पाठयामास ते चक्रुः संहितास्ततः ॥११॥

—ब्रह्मवैवर्त्त ब्र० ॥१६ अ० ।

वेदों को क्या तो आर्यसमाजस्थ और अन्य सब हिन्दू बन्धु एकमत होक अपौरुषेय होना मानते हैं, उनमें केवल इतना मतभेद है कि समाजस्थ तो शु वैदिक रीति से यह मानते हैं कि सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु आदित्य और अंगिर नामक ऋषियों के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किय था और उससे वे ब्रह्मा आदि को प्राप्त हुए । और हिन्दू आर्य बन्धु पौराणि रीति से यह मानते हैं कि सबसे पहिले उन चार मुख वाले ब्रह्मा जी ने अप एक-एक मुख से एक-एक वेद का प्रकाश किया है कि जिनका पाँचवां महादेवी जी ने हनन कर डाला था, वेदों के ईश्वर से उत्पन्न होने के विष अन्य देशीय विद्वानों की आगे यह शंका थी कि वेदों में उनका ईश्वर से उत होना नहीं लिखा है, सो यह शंका तो अब निवारण हो गई है, क्योंकि से मंत्र प्रकाशित हो चुके हैं कि जिनसे यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है, उन दो तीन मन्त्र हमने ऊपर संख्या के वर्णन में दिखा दिये हैं । तथा पौरा पुस्तकों में भी नीचे लिखे वाक्य मिलते हैं :—

योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्या शिल्पादि कर्म च ।
वेदः शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनात् ॥

—विष्णु स० ॥१

ओंकारप्रभवा वेदा गायत्री वेदसम्भवा ।
षडङ्गास्ते समाख्याताः सहोपांगास्तथैव च ।

—देवी पु० ७ अ

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणाः ।

—महाभा० वन० ॥

मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च ।

—महाभा० वन० ॥

इस वर्त्तमान जगत् और वेदों की उत्पत्ति को आर्यसमाजस्थ लोग तो विक्रमीय संवत् १९५३ शालिवाहन शक १८१८ ईसवी १८९६। ९७ ौर दयानन्दाब्द १४ में, १९७२९४८९९८ एक अर्व सत्ताणवें करोड़ उन्तीस ाख अड़तालीस हजार नौ सौ अट्ठानवें सौर्य्य वर्ष हुए मानते हैं। और उनके ानने का आधार वेद और सनातन वेदांग ज्योतिष् अर्थात् गणित शास्त्र पर है। ीचे लिखे अथर्ववेद के मंत्रों से ब्राह्म दिन और रात्रि की संख्या स्पष्ट प्रकाशत होती है कि जिसका सविस्तर वर्णन सूर्यसिद्धान्त और सिद्धान्त शिरोमणि ादि में किया गया है :—

अह्ने च त्वा रात्रये चोभ्याभ्यां परि दद्मसि।
अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत॥
शतं तेऽयुतं हायनान्द्धे युगे त्रीणि चत्वारि कृष्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥

अथर्व० कांड ८। प्र० १८। अनु० १। मं० २०। २१॥

इस ब्राह्म अहोरात्रि अर्थात् कल्प की गणना इस प्रकार से है :—

ग १७२८०००+त्रेता १२९६०००+द्वापर ८६४०००+कलि ४३२०००
तुर्युगी ४३२००००×७१ इकत्तर चतुर्युगी ३०६७२००००+संध्या
८०००=एक मन्वन्तर ३०८४४८०००×१४ चौदह मन्वन्तर ४३१८२७-
००+कल्पादि संध्या १७२८०००=कल्प अथवा ब्राह्म दिन ४३२०००००००
ाह्म रात्रि के ४३२०००००००=महाकल्प अथवा ब्राह्म अहोरात्रि
०००००००० आठ अर्व चौंसठ करोड़ वर्ष का होता है। अब इस पर से
जों की मानी हुई वर्ष संख्या की गणना नीचे लिखे प्रमाण है :—

कल्पादि संध्या.....	१७२८०००
गत छः मन्वन्तर के ३०८४४८०००×६=१८५०६८८०००	
वर्त्तमान मन्वन्तर की २७ चतुर्युगी के ४३२००००×२७	११६६४००००
वर्त्तमान मन्वन्तर की २८ वीं चतुर्युगी के तीन के १७२८०००+१२९६०००+८६४०००	३८८८०००
शक १८१८, विक्रमीय १९५३, ईसवी १८९६।९७ में कलि=४९९८	
अब तक हुए	१९७२९४८९९८
भोगने रहे.....	६६६७०५१००२
महाकल्प अथवा अहोरात्रि	८६४००००००

इस गणना को हमारे हिन्दू भाई भी मानते तो हैं परन्तु वे अन्य विद्वानों के आगे उसको यथावत् सिद्ध कर दिखाने के लिये साहस नहीं कर हैं। और यूरोपियन विद्वान् इसको बिलकुल ही असत्य होना समझते हैं जैसे f मार्शमैन साहब ने अपने इतिहास में कहा है—

"A Kalpa, or a day of Brahma, is composed of a thousa such periods, or 4,32,00,00,000 years. Extravagant as the calculations may appear, they are out done by the Burmes, wh affirm that the lives of the ancient inhabitants extended to period equal to sum of every drop of rain which falls on th surface of the globe in three years. The dates given for th first three ages must, therefore, be rejected as altogether imag nery, while the commencement of the fourth or present ag which corresponds, to a certain degree, with the authentic en of other nations may be received as generally correct."

Marshman's History of India Part 1. Pag

यह यूरोपीय विद्वान् अपनी धर्म पुस्तक के अनुसार इस सृष्टि को च पाँच हजार वर्ष के भीतर की ही उत्पन्न हुई मानते हैं और इस पर से उन्होंने अपना मनमाना चरखंडा नियत कर रक्खा है उससे ही वे संसार के इतिहास का निर्णय करते हैं, उनका यह सिद्धान्त बिलकुल अयुक्त देखो—उनके भूगर्भ विद्या के अब तक के ही अन्वेषण से वर्त्तमान जगत् आयु नीचे लिखे प्रमाण होनी विदित हुई है—

The Geologic Age of the World—Professor C. D. Wal expresses the opinion—contrary to that entertained by s Scientists—that geologic time is not to be measured by hund of millions of years, but simply by tens of millions. Thi widely different from the conclusions arrived at by Sir Cha Lyell, who, having his estimate on modifications of cer specimens of marine life, assigned 24,00,00,000 years as required geologic period ;—

Darwin claimed	...	...	20,00,00,000 yea
Crowell, about	...	...	7,20,00,000 ,,
Geikie, from	...	...	7,?0,00,000 upw

Alexander Winchell	30,00,000 years
Mc Gee, Uphan and other recent authorities claim from 10,00,00,000 to	68,00,00,000
The data presented by Dr. Walcott, showing the distribution of Geologic time or the different periods of sedimentary rocks give ... For the Cenzoic and Pleistocence	29,00,000
For the Mesozoic	72,40,000
,, Paleozoic	1,75,00,000
,, Algonkian	4,55,00,000

—The Scientific American or The Sacred Thoughts

विद्वानों को चाहिये कि इसी प्रकार अन्य सब विद्याओं के बल से अन्वेषण करते रहें और हमको आशा है कि एक दिन वे हमारी संख्या तक पहुँच जावेंगे। यह विषय पदार्थ विद्या का है और उसको किसी मतमतान्तर के अनुसार निर्णय करना नहीं चाहिये, और जो बात विद्या से सत्य सिद्ध हो वह मजहब से कदापि असिद्ध नहीं हो सकती हैं क्योंकि विद्या और वर्त्तमान अनेक मजहब वास्तव में क्या हैं और उनमें मुख्य कौन और गौण कौन हैं यह हम लोग भले प्रकार जानते हैं। सारांश यह है कि मजहब वही सत्य और युक्त है कि जिसको विद्या सिद्ध करती है।

तदनन्तर इस नियम में यह आज्ञा की गई है कि वेद को पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना चाहिये। इसको तो सब लोग मानते हैं परन्तु अन्य हिन्दू बन्धुओं का यह कहना है कि उसका पाठमात्र ही करना चाहिये और उसका अर्थ तो जब ब्रह्माजी ही नहीं जानते थे, तब हमारी क्या कथा है, और इसी प्रकार का वर्त्ताव भी देश भर में हो रहा है कि पाठमात्र करते हैं। यदि इस विषय में हमारे शास्त्रों से विचार किया जावे तो उनमें समाजस्थों के मानने के अनुकूल ही लिखा मिलता है कि वेद को अर्थ सहित पढ़ना चाहिये और जो ऐसा नहीं करता है वह पशु आदि है। सब को इन वचनों पर ध्यान देना चाहिये—

यथा खरश्चंदनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चंदनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढ़ाः खरवद्वहंति॥

सुश्रुते ४ अध्याय॥

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्
अर्थवित् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।।
—निरुक्त । १ । १८ ।

अधीत्य यत्किंचिदपि वेदार्थाधिगमे रतः ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति धर्म्मानुष्ठानविद् द्विजः ।। —मनुः ।।
न वेदपाठमात्रेण संतोषं कारयेद् गुरुः ।
पाठमात्रावसन्नस्तु पंके गौरिव सीदति ।।
योऽधीत्य विधिवद्विप्रो वेदार्थं न विचारयेत् ।
स सान्वयः शूद्रसमः पात्रतां न प्रपद्यते ।।
वेदस्याध्ययनं कार्य्यं धर्मशास्त्रस्य चापि यत् ।
अजानतार्थं तत् सर्वं तुषाणां कंडनं यथा ।।
यथा पशुर्भारवाही न तस्य भजते फलम् ।
द्विजस्तथाऽर्थानभिज्ञो न वेदफलमश्नुते ।।
पाठमात्ररतान्नित्यं द्विजातींश्चार्थवर्ज्जितान् ।
पशूनिव च तान् प्राज्ञो वाङ्मात्रेणापि नार्च्चयेत् ।
श्रुतहीनमधीतं यन्नेह नामुत्र तद्भवेत् ।
श्रुतन्तु केवलमपि समुद्धाराय कल्पते ।।
योऽधीते नार्थतत्वज्ञस्तस्य तद्धारणा वृथा ।
भारवाहीव भृतकः केवलं क्लेशभाग् भवेत् ।।
तस्मादर्थपरिज्ञाने यत्नः कार्यो विजानता ।
ज्ञानं कर्म्म च संयुक्तं मुक्त्यर्थं कथितं यथा ।।
अधीतं श्रुतसंयुक्तं तथा श्रेष्ठं न केवलम् ।
वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।
—व्यासः ।

तथा जो वह अर्थ सहित भी पढ़ा जाय तो भी उसमें यह अड़चन पड़ती है कि जितने अर्थ देखे जाते हैं वे सब एक दूसरे से भिन्न २ हैं, वे निरे भिन्न ही नहीं हैं किन्तु असत्य, अश्लील, अयुक्त और असंभव भी प्रतीत होते हैं के वे विद्वान् कि जो अपने को हिन्दू नाम से पुकारते हैं उनका य

कहना है कि वेद के अक्षर कामधेनु हैं अतएव सब मतों के आचार्य लोग जितने अर्थ करते हैं व सब सत्य और मानमीय हैं और जो उनमें से एक भी न माना जाय तो पूर्वाचार्यों पर दोष आता है और वे लोग ईश्वर के अवतार थे, इत्यादि इत्यादि। देखो—महीधर और गिरिधर भाष्य पृष्ठ ८३८ से ८४८ तक में "गणानां त्वा गणपतिं" आदि मंत्रों के कैसे अश्लील अर्थ किये हैं कि जिनको पढ़कर बुद्धिमान् मनुष्य को कैसी लज्जा और घृणा आती है। वैसे ही पंडित ज्वालाप्रसाद जी और उदयप्रकाश जी आदि के भी कई एक भाष्य आजकल के समय में रचे गये हैं और और भी रचे जाते हैं। परन्तु अब तक हमारे देश के विद्वानों ने एक मत होकर यह निश्चय नहीं किया है कि जिन वेदों को हम ईश्वरोक्त और परम ज्ञान शास्त्र होना मानते हैं उनके क्या वास्तव में वही अर्थ हैं कि जो अब तक सायण, महीधर ज्वालाप्रसाद, उदयप्रकाश और गिरिधर भाष्य वाले ठाकुर गिरप्रसाद सिंह जी ने किये हैं अथवा उनका कोई सत्य अर्थ र है। सब शास्त्र तो वेदों की बड़ी ही कीर्त्ति गाते हैं परन्तु जो कोई इन ष्यों को पढ़कर देखता है तो फिर उसका उनको छूने का भी मन नहीं होता । किसी विद्वान् ने जो यह कहा है कि हमारे देश के सब भाष्यकार और काकारों ने अपना मनमाना अर्थ कर-करके वेद और अन्य सब आर्ष ग्रन्थों : कलंक लगा दिया है वह वास्तव में यथार्थ प्रतीत होता है। यदि किसी को देह हो तो महीधर और गिरिधर भाष्य को पढ़कर परीक्षा कर ले। तथा ी कारण है कि अन्य देशीय विद्वान् उक्त भाष्यादि को पढ़कर हमारे वेदों । गड़रिये और बच्चों के गीत बतलाते हैं। किन्तु आर्य समाजों ने तो अपने र्थ से वेदों का जो वास्तविक माहात्म्य है वह सब को प्रकाशित कर दिखाया । भद्र पुरुषों को निर्भ्रान्त होकर मानना चाहिये कि वेद सब सत्य विद्या के तक हैं और उनमें कोई असत्य, अयुक्त, असंभव और अश्लील बात नहीं ाखी है। किन्तु यहाँ हम उदाहरण के लिये एक मन्त्र के नौ (९) अर्थों की त्ति को प्रकाशित करते हैं कि जो आगे "हरिश्चन्द्र मैगोजीन" में सन् १८७४ अँक ६ में "श्रुतिरहस्य" नामक लेख द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। इस पर सब लोग विचार कर सकेंगे कि क्या यह सब अर्थ वास्तव में सत्य ही हैं—

लमंत्र="चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

यजुः० अ० १७। मं० ९१॥

१ अक्षरार्थ=उसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, तीन प्रकार से बंधा हुआ बैल चिल्लाता है, महो देव मरने वालों में घुसा है।

२ निरुक्तकार=यह श्रुति यज्ञ का प्रतिपादन करती है, चार वेद इसके चार सींग हैं, तीन सवन अर्थात् नीच, मध्य और उच्च स्वर ये तीन पैर हैं, प्रायणीय और उदयनीय ये दो सिर हैं, सात गायत्र्यादि छन्द इसके हाथ हैं, मंत्र ब्राह्मण और कल्प तीनों से बंधा हुआ यज्ञवृषभ शब्द करता है, तेज का देवता मनुष्यों में इनके कल्याण के हेतु प्रवेश करता है।

३ महाभाष्यकार—यह श्रुति शब्द रूपी वृषभ के वर्णन में है यथा—संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग और निपात ये चार इसके सींग हैं, और भूत भविष्यत् और वर्त्तमान ये काल तीन पैर हैं, नित्य और कार्य ये दो सिर हैं, सात विभक्तियाँ हाथ हैं, हृदय, कंठ और सिर तीन स्थानों में बंधा है, वर्षण से इसकी वृषभ संज्ञा है, शब्द करने वाला महान् देव (शब्द-रूप) मरण धर्म वाले मनुष्यों में प्रविष्ट होता है।

४ श्री रामानुजाचार्य्य जी—यह श्रुति ईश्वर के वर्णन में है, चारों वेद चार सींग हैं, नित्य, बद्ध और मुक्त तीनों प्रकार के जीव तीन पाद हैं, शुद्ध-सत्व और गुणात्मक-सत्व इसके दो सिर हैं अर्थात् सिर—स्थान में हैं, महत्तत्वादि सात प्रकृति और विकृति इसके सात हाथ हैं, ऐसा महादेव श्रेष्ठ वृषभ वासुदेव अपने संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध इन तीन रूपों से मनुष्यों में बधता नाम प्रकट होता हुआ सब वस्तुओं को रेरवाति अर्थात् नाम रूपवत् करता है और मर्त्य नाम चेतनाऽचेतन पदार्थों को अन्तरात्मा होकर प्रवेश करता है।

५ श्री विद्यारण्य—यह श्रुति प्रणव पर है, अकार, उकार, मकार और नाद ये इसके चार सींग हैं, अध्यात्म, विश्व और तैजस ये तीन पाद हैं, चित् और अचित् ये दो शक्तियाँ सिर स्थान में हैं, भूरादि सात लोक सात हाथ हैं, विराट्, हिरण्यगर्भ और व्याकृत इन तीन प्रकारों से बंधा हुआ वृषभ प्रणव ब्रह्म तेजोमयत्व का प्रतिपादन करता है।

६ श्री वल्लभाचार्य्य जी के मतानुयायी—यह श्रुति श्रीपुष्टि लीलास्थ पूर्ण पुरुषोत्तम ही का प्रतिपादन करती है। उन श्री पुरुषोत्तम के चार नित्य सिद्धादि यूथ शृंग अर्थात् उत्तम स्थान में हैं और उनके तीन पाद अर्थात् प्राप्ति होने के साधन हैं। तनुजा, वित्तजा और मानसी यह तीन प्रकार की सेवा है, सख्य और आत्मनिवेदन ये दो भक्तियाँ सिर अर्थात् सिद्ध स्थान में हैं, श्रवणादिक सात भक्तियाँ हाथ अर्थात् साधन स्थान में हैं, श्री पुरुषोत्तम की पूर्वोक्त नौ प्रकार की भक्ति से युक्त जीव अलौकिक सामर्थ्य सायुज्य और सेवा में उपयोग्य देह धारण इन तीन प्रकार से बंधा है, और उनकी लीला के प्रवेश के अर्थ धर्म स्वरूप वर्षा करने वाले और शोभा करने वाले वृषभ अर्थात् श्री आचार्य रोरवीति नाम भक्तों को मंत्र और ग्रंथ द्वारा उपदेश करते हैं जिससे मर्णधर्मा जीव अर्थात् सेवामार्गी जीव जब अधिकारी होते हैं तब महोदेव लीलास्थ पूर्ण पुरुषोत्तम उनमें आवेश करके लीला का अनुभव कराते हैं।

७ श्री वेणु पर—यह श्रुति श्रीवेणु का प्रतिपादन करती है, गान में चार रीति की वाणी चार सींग हैं, कोमलादि तीन स्वर पाद हैं, मुख्य छिद्र वा लय और स्वर दो सिर हैं, सात रंध्र सात हाथ हैं, अधर और दो हस्तों से बंधा है, ऐसा "**रुद्रो वै वेणुः**" इस श्रुति से "साक्षात् रुद्रस्वरूपं वेणुं श्रीगोपालमुपास्महे श्रुतिशिरो वंशीरवैर्दर्शितम्" इससे वेणुरूप ही धर्म मनुष्यों में प्रवेश करता है।

८ श्री संगीत पर—यह श्रुति संगीत का भी प्रतिपादन करती है, इसके तत, वितत, घन और धमन चार सींग हैं, तीन ग्राम तीन पाद हैं, लय और स्वर दो सिर हैं, सात स्वर वा त्रिमूर्छना सप्तक सात हाथ हैं, कंठ नाभि और मुख इन तीन स्थलों में बंधा हुआ संगीत रूपी वृषभ अर्थात् गान ब्रह्म मनुष्यों को तन्मय करता है।

९ साहित्य पर—यह श्रुति साहित्य का भी प्रतिपादन करती है, इसके आरभटयादि कथन चार सींग हैं, लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि तीन पाद हैं, दृश्य और श्रव्य दो सिर हैं, चित्रादि सात हाथ हैं, गद्य, पद्य और गीत तीन रीति से बंधा है, ऐसा साहित्य रूपी वृषभ मनुष्यों को चित्त में

उल्लास कर आनन्द देता है, यथा—

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमांचकंचुकाः ।
विनापि कामिनीसंगं कवयः सुखमासते ।।
सुभाषितेन गीतेन युवतीनां च लीलया ।
यस्य न द्रवते चित्तं स वै मुक्तोऽथवा पशुः ।।

सब भद्र पुरुषों को उचित है कि इस अति संक्षिप्त व्याख्या से निर्भ्रान्त होकर वेद को सदैव पढ़ते-पढ़ाते और सुनते-सुनाते रहें और जो कुछ उसमें अनेक सत्य विद्याओं का ज्ञान बीज रूप से वर्णन किया हुआ है उसको उपार्जन करें, इत्योम् ।

चौथा नियम—FOURTH COMMANDMENT

मूल=TEXT

(४) सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

Different Translations

I. All ought to be ever ready to accept truth and reject untruth.

—*Triumph of Truth Page 99.*

II. An Arya should always be ready to accept truth and renounce untruth when discovered.

—*What is Arya Samaj Page 3.*

III. The Arya Samaj ought to be ever ready to accept truth and recant untruth.

—*Our Translation.*

व्याख्या

यह चौथा नियम है। पहिले में ईश्वर की संज्ञा, दूसरे में उसका लक्षण और तीसरे में सब सत्य विद्या के मूल वेद का विधान करके अब इस चौथे में सत्य को ग्रहण करने और असत्य को सदा त्याग करने के लिये उद्यत रहने का आदेश किया गया है। इतना तो हम बिना समझाये भी इन दोनों सत्य और असत्य शब्दों से ही समझ सकते हैं कि वे परस्पर एक दूसरे के अर्थ के विरोधी हैं और जो हम उनमें से एक के भी अर्थ को यथावत् समझ लें तो दूसरे के अर्थ को झट जान लेंगे कि वह उसका विपर्यय है। यह सत्य शब्द व्याकरणशास्त्र के अनुसार—सत्+यत्—से बना है और सत्—अस्+शतृ—से कि जिसका अर्थ—अस्तीति—है। तथा सत्य का अर्थ—सते हितम्—है। वेदान्तशास्त्र में उसका अर्थ—सत्यत्वं च त्रिकालाबाध्यत्वमिति—और न्यायशास्त्र में—यथार्थज्ञानविषयत्वं सत्यत्वमिति—किया है। निदान जो तीनों काल में एकसा ही रहे, यथार्थ ज्ञान का विषयत्व हो और जिसमें हित हो उसको सत्य कहते हैं। इससे हम सिद्धान्त कर सकते हैं कि जो

तीनों काल में एकसा न रहे और यथार्थज्ञान विषयत्व न हो और जिसमें हित भी न हो वह असत्य है। तथा इसका पौराणिक लक्षण भी इसीसे मिलता हुआ है :—

यथार्थकथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम्।
तत्सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्य्ययम्॥

—पाद्मे १६ अध्यायः॥

इतनी ही व्याख्या से सबकी समझ में यह आ सकता है कि जिसको हम हमारी दिन-रात की बोलचाल की नागरी भाषा में 'सच' वा 'सचाई' कहते हैं वह सत्य कहाता है। और जो जैसा वास्तव में हो उसे जैसा ही कहना, मानना और करना सत्याचार कहाता है। यह कोई ऐसा बड़ा कठिन विषय नहीं है कि जिसकी सविस्तार व्याख्या करने की आवश्यकता हो। क्योंकि इस को सब छोटे-बड़े और पण्डित-मूर्ख भले प्रकार जान रहे हैं। आश्चर्य इतना ही है कि उसका कोई यथावत् आचरण नहीं करते हैं! संसार भर के मनुष्य-मात्र के सब शास्त्र खड़े हुए चिल्ला-चिल्लाकर पुकार रहे हैं कि सत्य ही एक अमूल्य पदार्थ है कि जिसके द्वारा इस लोक और परलोक के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, परन्तु मनुष्य वह जबरदस्त शैतान है कि किसी की कुछ भी नहीं सुनता है और जो जी में आता है वही करता है। उसके करने का इसी पर अन्त नहीं है किन्तु वह सदैव यही प्रयत्न करता रहता है कि मैं असत्य को सत्य और सत्य को असत्य सिद्ध करके अपने अर्थ की सिद्धि करूं। तथा ऐसे अनेक व्यवहारों से काम निकलता हुआ हम अपनी आँख से देख रहे हैं। हरेक सत्य का जिज्ञासु मनुष्य अनुभव करके जान सकता है कि ऐसे कर्म मूर्ख मनुष्य तो कर सकते हैं परन्तु बड़े-बड़े विद्वान् और अनेक दीर्घ शब्द युक्त उपाधि अलंकारधारी तो बहुधा किया करते हैं। ऐसा देखकर उस सत्याचारी को मिथ्याचारियों के मनुष्यत्व और विद्वत्तादि पर बड़ा शोक करना पड़ता है। मूर्ख तो मूर्ख ही हैं उनको कोई कुछ कह नहीं सकता है परन्तु हम जो विद्वान्, बुद्धिमान् और मनुष्यत्व रखने वाले मनुष्य हैं उनका क्या यह कर्त्तव्य कर्म नहीं है कि प्रथम स्वयं सत्याचारी हों और फिर अपने अन्य बन्धुओं को भी उसमें प्रवृत्त करें। आर्य और हिन्दू—आर्यों के सब शास्त्र सत्याचार की प्रशंसा से भरे पड़े हैं। वे यह कहते हैं :—

सत्यधर्मं समाश्रित्य यत्कर्म कुरुते नरः।
तदेव सकलं कर्म सत्यं जानीहि सुव्रते॥
नहि सत्यात्परो धर्मो न पापमनृतात्परम्।
तस्मात्सर्वात्मना मर्त्यः सत्यमेकं समाश्रयेत्॥
सत्यहीना वृथा पूजा सत्यहीनो वृथा जपः।
सत्यहीनं तपो व्यर्थमूषरे वपनं यथा॥
सत्यरूपं परम्ब्रह्म सत्यं हि परमं तपः।
सत्यमूलाः क्रियाः सर्वाः सत्यात्परतरं नहि॥
अतएव मया प्रोक्तं दुष्कृते प्रबले कलौ॥
कुलाचारोऽपि सत्येन कर्त्तव्यो व्यक्तभावतः॥
गोपनाद्ध्रियते सत्यं न गुप्तिरनृतं बिना।
तस्मात्प्रकाशतः कुर्य्यात् कौलिकः कुलसाधनम्।
तत्रापि सत्यं बलवत् तपः खंजं दयापि च।
सत्यपादे कृते लोपे धर्म्मलोपः प्रजायते॥
तस्मात्सत्यं समाश्रित्य सर्वकर्माणि साधयेत्।
कुलाचारं विना यत्र नास्त्युपायाः कुलेश्वरि॥
तत्रानृतप्रवेशश्चेत् कुतो निःश्रेयसं भवेत्।
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्॥
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते।

फिर हम नहीं जानते कि हम पढ़े हुए मूर्ख, देखते हुए अंधे और सुनते हुए बहरे क्यों बन रहे हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि सत्य का त्याग करने से ही हम लोग सर्वरीत्या हीन और दीन हो गये हैं तथापि हम अज्ञान की घोर निद्रा से क्यों नहीं जागते हैं सो परमेश्वर ही जानता है और क्या कहें।

ऐसी दशा में पड़े हुए हम लोगों को जब एक महर्षि ने इस सत्य की ओर लगाया तब समाजस्थों को तो ज्ञात हो गया है कि :—

१. हम वास्तव में हिन्दू नहीं हैं किन्तु आर्य हैं।

२. सब का आदि कारण एक परमेश्वर है और वह सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी और अजन्मादि लक्षणवाला है, और

वही मनुष्यमात्र का उपसनीय देव है।

३. वेद सब सत्यविद्या का पुस्तक है और उसमें कोई बात अश्लील, असत्य अयुक्त और असंभव नहीं है।

४. ऐसा कभी नहीं हो सकता है कि जो निराकार है वह साकार बन जाय और जो अजन्मा है वह अनेक अवनार लेकर सृष्टिजन्य क्लेश, कर्म, विपाक और वासनादि में लिप्त हो। देखो सात और पाँच मिलकर सदा बारह ही होते हैं अतएव चेतन जड़ नहीं हो सकता है और जड़ चेतन, वैसे ही सोना, लोहा और रात्रि, दिन आदि सब पदार्थों को समझ देखें।।

सारांश यह है कि समाजस्थों को समझ आते ही उनको यह दृढ़ हो गया कि सर्वदा सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग करने पर उद्यत रहना ही योग्य है और भेड़िया चाल में कुछ सार नहीं है। तब से यह लोग शनैः शनैः अपने-अपने सब व्यवहारों का शोधन करके सत्यानुसार वर्त्तते हैं। यह भी ध्यान में रहे कि सत्य का अमर-पट्टा कोई इन लोगों के ही नाम पर नहीं लिखा हुआ है किन्तु जो उसका आचरण करे वही सत्याचारी हो सकता है और जो न करे वह समाजस्थ भी क्यों न हो किन्तु मिथ्याचारी है। समाजों के मन्तव्यामन्तव्य का सब आधार विशेष करके इस नियम पर है और इस पर दृढ़ रहना ही मानो पक्षपात अर्थात् दुराग्रह का जड़मूल से नाश कर देना है। ऐसी दशा में चाहे किसी को प्रिय लगे और चाहे अप्रिय किन्तु सोने को सोना, चांदी को चांदी और लोहे को लोहा ही कहना पड़ेगा। यदि कोई यह कहे कि समाजों के मन्तव्यों में से कोई असत्य सिद्ध हो जाय तो फिर उसको समाजस्थ त्याग कर सकते हैं कि नहीं। इसका उत्तर यह है कि यह बात तो उनके इस चौथे नियम में है ही अतएव उनको सर्वदा उद्यत ही समझना चाहिए। परन्तु शंका करने वाले को भले प्रकार ध्यान में रखना चाहिये कि ऐसा सिद्ध कर सकना ही असम्भव है। क्योंकि समाजों ने जिन मन्तव्यों को माना है वे भले प्रकार सोच-समझ कर माने हैं। इसकी सत्यता हम यहाँ थोड़े में ही दिखा देते हैं। देखो पहिले और दूसरे नियमों को और समझो कि समाजों ने अपना वह आदि कारण संज्ञावाला ईश्वर माना है कि जो न तो राजा कंस और किंग हैरोड King Herod से डर कर कहीं भाग जा सकता है और न वह बादशाह-महमूद और औरंगजेब के हाथ आ सकता है। निदान वह, वह ईश्वर है कि

जसकी सिजदा अर्थात् उपासना ऐसे ऐसे प्रचंड दौरात्म्य वाले भी लाचार होकर करते हैं।

फिर भी ध्यान में रहे कि समाजों के मुख्य मन्तव्य यह दश नियम ही हैं और अन्य सब विषय तो उनके अंतर्गत गौण पक्ष में हैं। जब मनुष्य सत्य को दृढ़ता से ग्रहण कर लेता है तब उसके शरीर में जो परमात्मा व्यापक हो रहा है उसकी कृपा से मनुष्य का अन्तःकरण ही उसको सत्यासत्य का पूर्ण ज्ञान करा देता है और उसको किसी से भी कुछ पूछताछ करने की आवश्यकता नहीं होती है।

कितने मनुष्यों का ऐसा भी कहना है कि निरी सचाई से ही सांसारिक व्यवहार यथावत् नहीं चल सकते हैं और कितनेक व्यवहारों में लाचार होकर मिथ्याचार करना पड़ता है। यह उनका अज्ञानांधकार है। ध्यान देकर विचारने से स्पष्ट दीख सकता है कि ईश्वर जिसका इसी सचाई करके 'सत्यम्' नाम है। उससे लेकर एक तृणपर्यन्त सब जड़ और चेतनादि अपनी-अपनी सत्यतारूपी शक्ति से अस्तीति, विद्यमान हो रहे हैं और जो वह उनमें से पृथक् हो जाय तो सृष्टि के सब व्यवहार अस्तव्यस्त हो जायें। फिर देखो कि हम मिथ्याचार में भी क्या करते हैं—उसमें भी हमको अन्य को सत्यता ही सिद्ध कर प्रतीत करानी पड़ती है अर्थात् असत्य को सत्य प्रतीत कराना होता है। जो हम ऐसे व्यवहार में से सत्यता को पृथक् कर दें तो फिर कोई भी हमारे पँजे में नहीं फंसेगा और न कोई अर्थ सिद्ध होगा। निदान ऐसी कार्यसिद्धि में भी सत्यता की साख ही कारण होती है। फिर भी यदि कोई शंका करे कि हम अपनी गोप्य वार्त्ताओं को किसी के पूछने पर क्योंकर कहें और ऐसी दशा में मिथ्या ही बोलना पड़ेगा। सो यह भी अयुक्त है, ऐसी दशा में मिथ्याचरण करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है किन्तु पूछने वाले को कह सकते हैं कि जो आप पूछते हैं वह हमारी गोप्य बात है उसको हम तुमको नहीं कह सकते हैं और उसी तरह हम उस बात को न भी कहें तो वह मिथ्याचार नहीं है। इतना तो हम को सत्याचरण में अवश्य कर्त्तव्य है कि हम किसी के प्रति कडुवा वचन नहीं कहें किन्तु मिष्ट वचन कहें, जैसे अंधे को सूरदास जी कहने से बुरा नहीं लगता है। जो मनुष्य सत्याचारी है उसको ऐसी शंका ही नहीं होती है और न कभी ऐसा काम पड़ता है, क्योंकि न तो वह मिथ्याचार का

संसर्ग करता है और न मिथ्याचारी उसके साथ कुछ संसर्ग रखते हैं; किन्तु वे उलटे उससे डरते हैं कि जो हमारा कोई मिथ्याचार उसके जानने में आ जायेगा तो हमारी सब पोल खुल जायगी और हम हानि उठावेंगे।।

जो लोग सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिए सदा सर्वदा उद्यत रहते हैं वे सत्याकाररूप हो जाते हैं अर्थात् सत्य के जो यह तेरह आकार हैं—समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, ह्री, तितिक्षा, अनसूयता, त्याग, ध्यान, आर्य्यत्व, धृति, दया और अहिंसा—उनसे उनका जीवन विभूषित हो जाता है :—

सत्यं च ममता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्य्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ।।
त्यागो ध्यानमथार्य्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ।।

—महाभारते राजधर्मः ।।

सब लोगों को उचित तो यह है कि हमारी इस संक्षिप्त व्याख्या को पढ़कर और भले प्रकार मनन करके जो वह अत्युत्तम प्रतीत हो तो तुरन्त ही सत्य को अंगीकार कर लें, इत्योम्।

पाँचवां नियम=FIFTH COMMANDMENT

मूल—TEXT

(५) सब काम धर्म्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

Different Translations.

I. All actions ought to be done conformably to virtue, i.e. after the thorough consideration of right and wrong.

—*Triumph of Truth Page 99.*

II. Truth arrived at, after consummate, deliberation, should be his guiding principle in all actions.

—*What is Arya Samaj P. 3.*

III. All actions should be done aggreeably to Dharm (virtue) that is, after the thorough consideration of right and wrong.

—*Our Translation.*

व्याख्या

यह पाँचवाँ नियम है। इसके पहिले से समाज को सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग करने के लिये सर्वदा उद्यत करके अब तदनुसार सब काम करने का आदेश इस नियम करके विधान किया गया है। सब शब्द से यहाँ इस लोक और परलोक सम्बन्धी सब व्यवहारों का अभिप्राय है। तथा इस नियम में धर्म शब्द भले प्रकार समझने के योग्य है क्योंकि उसके अनुसार ही सब काम करने का आदेश किया गया है। यह शब्द—धृ+मन्—से बना है और 'धृ' धातु के—धारणे, स्थितौ और पतने—आदि अर्थ हैं। और इस नियम के रचने वाले ने अपना लक्षण इस नियम में ही प्रकाशित कर दिया है, जैसे कि जो सत्य और असत्य को विचार करके सिद्ध होता है वह ही धर्म कहाता है और उसके अनुसार ही सब काम करने चाहियें। यह शब्द संस्कृत और नागरी भाषा में अनेक अर्थों में प्रयोग होता है किन्तु मतावलम्बी लोग इस शब्द को सुनते ही मली चेष्टा करने लगते हैं अर्थात् उन्होंने सब बातों को धर्म ही मान लिया

है, परन्तु विद्वन् मंडली में इसका जहाँ जैसा अर्थ होता है वहाँ वैसा माना जाता है। इसको थोड़े में समझ लेने के लिये भट्ट के वार्तिक में जो यह कहा है वह बड़ा उपयोगी है :—

द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्म्मत्वं स्थापयिष्यते।
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न तादूप्येण धर्म्मता।
श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते।
तादूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः।

इससे समझ में आ सकता है कि द्रव्य, क्रिया और गुणादि को धर्मत्व है जैसे कि अग्नि का धर्म दाह करना और ऐसे ही पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और आत्मा तथा परमात्मादि को भी समझ लेना चाहिये और वैसे ही राज धर्म, प्रजा धर्म, मनुष्य धर्म, वर्ण धर्म और आश्रम धर्मादि को भी विचार लेन चाहिये। जब से अनेक मत मतान्तरों का प्रचार हुआ है तब से लोगों ने शैव और वैष्णवादि अनेक धर्मों की कल्पना कर ली है। अतएव इस समय में धर्म शब्द का वास्तविक अर्थ झिझट में पड़ गया है। हमारे ऊपर लिखे प्रमाण से यह स्पष्ट विदित है कि द्रव्य क्रिया और गुणादि के धर्मत्व को ही वेद में धर्म माना है और विद्या के ग्रन्थों में भी इसी प्रकार मानते हैं। ध्यान में रहे कि यहाँ विद्या और मत अर्थात् मजहब के विचारों में झगड़ा है। तथा नीचे लिखे शास्त्रों में भी भट्ट के अनुकूल ही यह कहा है :—

विहितक्रियया साध्यो धर्म्मः पुंसां गुणो मतः।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः सगुणोऽधर्म्म उच्यते॥

—धर्म्मदीपिका।

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्य्ययः॥

—श्रीभागवतम्।

वेदप्रणिहितं धर्म्मकर्म्म तन्मंगलं परम्॥

—ब्रह्मवैवर्त प्रकृतिखंडम्।

वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

मनुः० २। ६

सारांश यह है कि सब का आधार अर्थात् दारमदार हमारे वेदोक्त धर्म पर ही है। तदनन्तर यह भी ज्ञातव्य है कि देवादि के धर्म पुराणों में यह कहे हैं अर्थात् देवादि वे कहाते हैं कि जो ऐसे-ऐसे कर्म करते हैं। तथा इन कर्मों का करना मनुष्य देहधारी में ही घट सकता है—

सुकेशिरुवाच:

किं लक्षणो भवेद्धर्मः किमाचरणसत्क्रियः।
यमाश्रित्य न सीदन्ति देवाद्यास्तु तदुच्यताम् ॥

ऋषय ऊचु:

देव=देवानां परमो धर्म्मः सदा यज्ञादिकाः क्रियाः।
स्वाध्यायवेदवेत्तृत्वं विष्णुपूजारिति स्मृतः ॥
दैत्य=दैत्यानां बाहुशालित्वं मात्सर्य्यं युद्धसत्क्रिया।
विन्दनं नीतिशास्त्राणां हरशक्तिरुदाहृता ॥
सिद्ध=सिद्धानामुदितो धर्मो योगयुक्तिरनुत्तमा।
स्वाध्यायं ब्रह्मविज्ञानं भक्तिर्द्वाभ्यामपि स्थिरा ॥
धर्व=उत्कृष्टोपासनं ज्ञेयं नृत्यवाद्येषु वादिता।
सरस्वत्यां स्थिरा भक्तिर्गांधर्वो धर्म उच्यते ॥
विद्याधर=विद्याधरत्वमतुलं विज्ञानं पौरुषे मतिः।
विद्याधराणां धर्मोऽयं भवान्यां भक्तिरेव च ॥
किंपुरुष=गान्धर्वविद्यावेदित्वं भक्तिः स्थाणौ तथा स्थिरा।
कौशल्यं सर्वशिल्पेषु धर्म्मः किंम्पुरुषः स्मृतः ॥
राक्ष=ब्रह्मचर्य्यममानित्वं योगाभ्यासरतिर्दृढ़ा।
सर्वत्र कामचारित्वं धर्मोऽयं पैतृकः स्मृतः ॥
राक्षस=ब्रह्मचर्य्यं यताशित्वं जप्यज्ञाने च राक्षस।
नियमाद्धर्म्मवेदित्वमर्षो धर्मः प्रचक्षते ॥
मानव=स्वाध्यायं ब्रह्मचर्यं च दानं यजनमेव च।
अकार्पण्यमनायासं दयाऽहिंसा क्षमादमः ॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च मांगल्यं भक्तिरुच्यते।
शंकरे भास्करे देव्यां धर्मोऽयं मानवः स्मृतः ॥

गुह्यक=धनाधिपत्यं भौमानि स्वाध्यायं शंकरार्च्चनम् ।
अहंकारमशौचं च धर्मोऽयं गुह्यकेष्विपि ॥
परदाराभिमर्षित्वम् परार्थेऽपि च लोलुपा ।
राक्षस=स्वाध्यायस्यऽम्बके भक्तिर्धर्मोऽयं राक्षसः स्मृतः ।
पिशाच=अविवेकस्तथाज्ञानं शौचहानिरसत्यता ।
पिशाचानामयं धर्म्मः सदा चामिषगृध्नुता ॥
योनयस्तु द्वादशैताः सह धर्म्माश्च राक्षस ।
ब्रह्मणा कथिताः पुण्या द्वादशैव गतिप्रदाः ॥

—वामनपुराण ११ अध्याय

इन दिनों देखने में आता है कि बहुत से लोग धर्म का झंडा लिये f करते हैं, उन धर्मध्वजियों के धर्मध्वजी, धर्म वाणिजक, वैडालव्रतिक, वकव्रा वैडालव्रती और पाषंडी आदि अनेक नाम पुराणादिक शास्त्रों में कहे हैं, उ परीक्षा करने के लिये नीचे लिखे लक्षण अवश्य स्मरण में रखने योग्य हैं—

धर्म्मध्वजी सदा लुब्धः छाद्मिको लोकदंभकः ।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्व्वाभिसन्धकः ।
यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छ्रितः ।
प्रच्छन्नानि च पापानि वैडालं नाम तद् व्रतम् ॥१९६॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च वकव्रतचरो द्विजः ॥

—मनुः ॥ अ० ४ ॥ १९

छद्मना चरितं तच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥
अलिंगी लिंगवेषेण यो लिंगमुपजीवति ।
स लिंगनां हरेदेनस्तिर्य्यग्योनौ च जायते ॥
वैडालव्रतिना पापाः सर्वधर्मविनाशकाः ।
सद्यः पतन्ति पापेषु कर्म्मणस्तस्य तत्फलम् ॥
पाषंडिनो विकर्म्मस्थान् वामाचारांस्तथैव च
पंचरात्रान् पाशुपतान् वाङ्मात्रेणापि नार्च्चयेत् ॥

—कौर्म्मे उपविभागे ५ अध्या

धर्म्मवाणिजिका मूढ़ा फलाकामा नराधमाः ।
अर्च्चयन्ति जगन्नाथं ते कामानाप्नुवन्त्युत ।।
इति मलमासतत्वधृतविष्णुधर्मोत्तरतृतीयकांडीयवचनम्

आर्य समाजें जिस धर्म को मानते हैं उसका नाम वैदिक धर्म अथवा आर्ष धर्म है, इसके दो भेद हैं जैसे अभ्युदय अर्थात् इस लोक सम्बन्धी व्यवहारों का और निःश्रेयस् से अर्थात् परलोक सम्बन्धी । इसको समाज स्वयं मानते हैं और इसी का अन्य मनुष्य मात्र को उपदेश करते हैं । इसके विषय में मनु जी ने यह कहा है—

आर्षधर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म्म वेद नेतरः ।।
—मनु० १२।१०६ ।।

यह वचन मनुष्यमात्र को सदा ध्यान में रखने योग्य हैं क्योंकि मनु जी को सब परम प्रामाणिक समझते हैं और वेदोक्त धर्म को भी सब आर्य परमोत्तम मानते हैं । उस वेदोक्त धर्म के विषय में मनु महाराज का यह कहना है कि उसके सिवाय इतर कोई भी धर्म तर्क से अनुसंधित अर्थात् Reasonable नहीं है । और आजकल जो हम सायण और महीधरादि के भाष्य और उनके अंग्रेजी अनुवाद और हमारे अनेक बन्धुओं के विश्वास को देखते हैं तो उनसे मनुजी का यह वचन विरुद्ध दीखता है क्योंकि इनसे जो-जो वेदों में वर्णन किया गया प्रकाशित होता है वह सब अयुक्तु असत्य और असम्भव प्रतीत होता है, अतएव या तो मनुजी का कहना असत्य है अथवा यह आधुनिक भाष्यादि असत्य हैं । समाजस्थ तो मनुजी के सम्मुख इन सबको अशुद्ध मानकर यह दृढ़ मानते हैं कि वेदों का वह अर्थ करना सत्य है कि जो अयुक्त, असत्य और असंभव न हो और फिर वही धर्म भी तर्कसे अनुसन्धित होगा ।

जिनको हम लोगों ने इस समय में धर्म मान रक्खे हैं उनमें से शैव, वैष्णव, रामानुज, गणपति, यक्ष, राक्षस, भूतादि और पाषंडादि के विषय में जो-जो पुराणों में लिखा मिलता है यह तो हमने दूसरे नियम की व्याख्या में प्रसंगसिर प्रकाशित कर दिया है और उसके अतिरिक्त इतना और भी जान

लेना चाहिए :—

चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ।।

—मनुः ३ । १५१ ।।

आह्वायका देवलका नक्षत्रग्रामयाजकाः ।
एते ब्राह्मणचांडाला महापथिकपंचमाः ।।

—महाभारते १२ । ७६

तत्रनारायणक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे हरेः पदे ।
वाराणस्यां बदर्य्यां च गंगासागरसंगमे ।।
पुष्करे भास्करक्षेत्रे प्रभासेरा समंडले ।।
हरिद्वारे च केदारे सोमे वदरपाचने ।
सरस्वतीनदीतीरे पुण्ये वृन्दावने वने ।
गोदावर्य्यां च काशिक्यां त्रिवेण्यां च हिमालये ।।
एतेष्वन्येषु यो दानं प्रतिगृह्णाति कामतः ।
स च तीर्थप्रतिग्राही कुम्भीपाकं प्रयाति च ।।
शूद्रातिरिक्तयाजी यो ग्रामयाजी च कीर्त्तितः ।
देवद्रव्योपजीवी च देवलः परिकीर्तितः ।।
शूद्रपाकोपजीवी यः सूपकार इति स्मृतः ।
सन्ध्यापूजाविहीनश्च प्रमत्तः पतितः स्मृतः ।।
उक्तं पूर्व्वप्रकरणे लक्षणं वृषलीपतेः ।
एते महापातकिनः कुम्भीपाकं प्रयान्ति ते ।।

—ब्रह्मवैव० प्रकृति० अ० ३० । २०६-१६

सुवर्णमथ युक्तात्मा तथैवान्यप्रतिग्रहम् ।
स्वकार्य्ये पितृकार्य्ये वा देवताभ्यर्च्चनेऽपि वा ।।
निष्फलम् तस्य तत्तीर्थं यावत्तद्धनमश्नुते ।
अतस्तीर्थेन गृह्णीयात् पुण्येष्वायतनेषु च ।।

—कौर्म्मे ३३ अ०

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयान्न शूद्रपतितादपि ।
न चान्यस्मादशक्तश्च निन्दितान् वर्जयेद् बुधः ।।

—कौर्म्म उपविभागे १५ अ० ।।

इस पंचम नियम के अनुसार हमको सब काम धर्मानुसार करने हैं और जिस धर्म के अनुसार वे किये जावेंगे उसका निश्चय सत्यासत्य के विचार से करने की आज्ञा इसमें की गई है, और उस सत्यासत्य की व्याख्या हम चौथे नियम की व्याख्या में कर आये हैं तथापि उस सनातन धर्म के यह मूल पुराणों में भी कहे हैं :—

अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः ।
ब्रह्मचर्यं ततः सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः ।।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद्दुरासदम् ।।

—मत्स्यपुराणे ।।

हे प्रिय पाठको ! आप सब जानते हैं कि हम लोग सांसारिक अन्य सब काम को कैसी सावधानता से करते हैं कि जो एक पैसे की एक मिट्टी की हंडिया भी लाते हैं तो उसे भले प्रकार ठोक-बजा लेते हैं और जो कदाचित् वह टूटी फूटी निकल जाय तो हम को कैसा बड़ा शोक होता है और अपने को ऐसी दशा में मूर्ख तक भी समझ लेते हैं परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि हम यह जानते हैं :—

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्व्वमन्यत्तु गच्छति ।

—हितोपदेशे ।।

तथापि धर्म सम्बन्धी कामों में तो हम लोग नीर-क्षीर की-सी कुछ भी विवेचना नहीं करते वर्त्तते हैं, किन्तु जो कुछ सांसारिक लाभ होता देखें तो हम उल्टे सत्य को असत्य सिद्ध करने के लिए कमर कसके उद्यत हो जाते हैं और मूछों पर हाथ फेरते हैं, क्या जो कोई बात विद्या की रीति से अयुक्त, असत्य और असंभव हैं वह कभी धर्म की रीति से ठीक हो सकती है। हम तो निर्भ्रान्त होकर कहते हैं कि कभी भी नहीं। जब वह वास्तव में इस प्रकार का है तब फिर हम ही विचारें कि हम कैसे ईमानदार और दीनदार हैं। ईश्वर से निरन्तर यही प्रार्थना है कि वह हम को सुबुद्धि प्रदान करे। इत्योऽम् ।।

छठा नियम=SIXTH COMMANDMENT

मूल=TEXT

(६) *संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है* अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

Different Translations

I. The principal object of the Arya Samaj is to do good to the world. i.e. to contribute to the physical, mental and social improvement of all.

—*Triumph of Truth Page 100.*

II. The primary object of the Samaj is to do good to the world by improving, physical, intellectual, spiritual, moral and social condition of mankind.

—*What is Arya Samaj P. 3.*

III. The chief object of this Samaj is to do good to the world, i.e. to cause its 1. Sharirik, 2. Atmik and 3. Samajik advancement.

N.B.

1. It means physical education, training of bodily organs and powers with a view to the promotion of health and vigour.
2. mental, i.e. intellectual and spiritual promotion.
3. Literally means relating to human Society. Hence moral and Social improvement.

—Our translation

व्याख्या

यह अनुभव करने से विदित हो सकता है कि गत पाँच नियमों का यथावत् पालन करने से जिज्ञासु को यथार्थ मनुष्यत्व प्राप्त हो जाता है, अतएव अब इस नियम में उसके एक मुख्य कर्त्तव्य कर्म का आदेश किया गया है कि जिससे वह मनुष्यत्व का फल भी प्राप्त कर सके, वह क्या है कि संसार भर का

पकार करना, यह सुनते ही हम सब अपने-अपने मन को टटोल कर देखते तो यह आदेश हमको बड़ा अप्रिय लगता है, दुनिया में बैठे हुए प्रत्यक्ष में तो म उस को बुरा नहीं कह सकते हैं; किन्तु इन शब्दों में तो हम अपना परा-र्श विदित करके अपनी बुद्धिमत्ता को बट्टा नहीं लगाते हैं कि हम से अपनी ो शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति हो ही नहीं सकती है फिर संसार भर की उन्नति का करना तो बड़ा ही भारी काम है, जिस समय हम सरों से यह कहते हैं उस समय हमारे मन में जो एक यह बात किसी के भी गे नहीं कहने की आती है उसको हम सब अपने-अपने मन में भले प्रकार ानते हैं कि हमको संसार भर का क्या कुछ देना आता है कि उसकी उन्नति रने में हम व्यर्थ प्रयत्न करें, भला हम स्वयं तो रोते रहें और अन्य का उप-ार करें, सबसे पहले पूर्ण उन्नति हमारी अकेले की ही हो जाय फिर जो दाचित् कुछ शेष रहे तो भले ही किसी अन्य की हो अथवा न हो। प्रिय न्धुओ ! ऐसे विचार उस मनुष्य के होते हैं कि जो संसार भर के मनुष्यों की णना से बाहर होता है, देखो ! भर्तृहरिजी ने बहुत ही ठीक कहा है :—

एते-सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमीमानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानोमहे॥

यदि संसार में कोई एक दूसरे के प्रति उपकार न करे तो सांसारिक व्यवहार क्योंकर चल सकते हैं।

यह उपकार शब्द—उप+कृ+घञ्—से बना है और उसका अर्थ उपकृतिः का है अर्थात् हित करने का नाम उपकार है। हमने 'माघ' में पढ़ा है कि—उपकारापकारो हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः—और जब हम किसी अन्य का उपकार करते हैं तब वह परोपकार कहलाता है और उसके करने वाले हम परोपकारी कहलाते हैं। देखो ! इसकी प्रशंसा में शास्त्रों में यत्र तत्र यह कहा है :—

उपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते।
समदृष्टिर्भवाशु त्वं सर्व्वभूतेषु केशव ! ॥

—जैमिनीये अश्वमेधिके पर्वणि ११ अध्यायः॥

मातापित्रोर्गुरौ मित्रे विनीते चोपकारिणे ।
दीनानाथविशिष्टेभ्यो दत्तं तु सफलं भवेत् ।।

—शुद्धितत्वम् ।।

एष मे प्रवरो भाति शुद्धधर्मप्रदो विधिः ।
परोपकरणादन्यत् सर्वमल्पं स्मृतं बुधैः ।।
परोपकारिभिर्दत्ता स्वप्राणा ऋषिभिः पुरा ।
अद्भिः प्रेतोपकारः स्यात् किन्न लब्धं मया पुनः ।।
दधीचिना पुरा गीतः श्लोकश्च श्रूयते भुवि ।
सर्वधर्म्ममयः सारः सर्व्वधर्म्मज्ञसम्मतः ।।
परोपकारजं पुण्यं तुल्यं क्रतुशतैरपि ।।

—पाद्मोत्तरखंडे २२ अध्यायः

तदनन्तर यह सदैव ध्यान में रखना उचित है कि संसार का उपका करना, कि जिसमें हमारा निज उपकार भी मिश्रित है, वह तीन प्रकार का अर्थात् १, शारीरिक २, आत्मिक और ३, सामाजिक । इन तीनों में से प्रथ जो शरीर-सम्बन्धी है वह सब से पहिले कर्त्तव्य है क्योंकि जिसका शरीर जैस कि आरोग्य रहना चाहिए वैसा जो नहीं रहता है तो उससे अपना और अन्न का कुछ भी हित नहीं हो सकता है किन्तु मान लेना चाहिए कि उपकारमा का आधार इस प्रथम शारीरिक पर ही है, यह शारीरिक हित मिथ्याहा विहार से नष्ट हो जाता है और जिसकी दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्य यथावत् प्रयोग में आती रहती हैं उसका शरीर नीरोग रहता है और वह इ मनुष्य संसार में मनुष्य कहलाकर मनुष्य के करने के कामों को यथायोग्य क सकता है । इस नियम में जो कुछ कहा गया है वह उस महर्षि का उपदेश कि जो स्वयं इस उपदेश के अनुकूल एक उदाहरणरूप था, जिन लोगों ने उ का शरीर देखा है वह भले प्रकार साक्षी दे सकते हैं कि इस कलिकाल में जैं वे विद्वान् और सब शुभगुणसंपन्न थे वैसे शारीरिक उन्नति करके हम को दिख देने वाले एक उदाहरण भी थे, इसीसे इन्होंने इन तीनों प्रकार की उन्नति क चमत्कार जितना हो सका वह करके हमको आँख से दिखा दिया है, यदि अकालमृत्यु उनको न ग्रस लेती तो हम और भी अधिक चमत्कार देखते

[रांश यह है कि शारीरिक उन्नति के जितने बाधक हैं उन सबको हम सब
ले प्रकार जानते है और उनके सविस्तर वर्णन करने की कुछ आवश्यकता
हीं है अतएव उनका हमको अब यत्न रखना चाहिए कि हमारी इस उन्नति
कुछ हानि प्राप्त न हो।

इसके पीछे हमको आत्मिक हित की चिन्ता करनी चाहिए, यह उन्नति
विद्या के उपार्जन करने से तो हो सकती है और अविद्या से उसकी हानि होती
, यह वह अमूल्य वस्तु है कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् सुखों की
ाप्ति होती है, जिसकी यह उन्नति नहीं हुई है उसी मनुष्य को संसार में
शुसंज्ञा तक भी दी जाती है, जो मनुष्य इसको भले प्रकार प्राप्त करता है वह
सी के बल से ब्रह्मानन्द तक को प्राप्त होता है, इसके साथ यह भी सदैव ध्यान
रखना चाहिये कि केवल विद्या का पढ़ना ही उस परमोत्तम फल को प्राप्त
हीं करता है किन्तु वह पढ़कर गुणना भी आवश्यक है उसके बिना हम देखते
कि संसार में कोरा पढ़ा लिखा मनुष्य एक भारवाही के समान है और
सकी इस लोक और परलोक में कुछ भी गति नहीं होती है, ऐसे मनुष्य मूर्ख
भी गये समझे जाते हैं, क्योंकि वे सदा अनेक प्रकार के दुराग्रहों में ग्रस्त,
ज्ञानांधकार में पड़े और धर्माभास पाषंड में लोलुप हुए अपना जीवन व्यतीत
रते हैं. ऐसे महात्मा इस कलिकाल में बहुत हैं और वे तब ही तक अपने वेष
छिपे हुए किसी को दृष्टि नहीं आते हैं कि जब तक कोई न्यायबुद्धि से
नकी परीक्षा नहीं करता है, सच्ची आत्मिक उन्नति जिसकी हो जाती है वह
सह के समान दहाड़ने लगता है और अनेक प्रकार के सुख-दुःख सहन करके
रोपकार के लिए अपने प्राण तक भी खो देता हे, ऐसा मनुष्य धन्य है !!

तथा तीसरी जो सामाजिक उन्नति है उससे अपने कुटुम्ब अथवा आर्य-
माजस्थ लोगों के समाज से ही अभिप्राय नहीं है किन्तु संसार शब्द का जो
स नियम में प्रयोग किया गया है उससे जगत् भर के मनुष्यों के समाज की
न्नति करने का अभिप्राय है, जब हम जगत् भर के हित के काम करेंगे तब
न्य सब हम और तुम भी उसके अन्तर्गत आ जायेंगे, इस नियम के अभिप्राय
सिद्ध है कि उसका आदेश करने वाला महर्षि निःसंदेह संसार भर का भला
ाहने वाला था, उस सच्चे परोपकारी को हम फिर भी धन्य है ! धन्य है !!
हते हैं, इससे हमको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि परस्पर के विरोध से
ामाजिक उन्नति कोई भी नहीं कर सकता है और न किसी अन्य को बुरा

भला कहने से कुछ उपकार हो सकता है, किन्तु अपने पूर्ण विरोधी को भी अपना निज भाई समझने से कुछ हो सकता है, भला कभी विरोध और बुरा बोलने से भी कोई समाज बन सकता है अथवा स्थिर रह सकता है ? जब एक समाज के प्रत्येक सभासद् प्रत्येक के दास बने रहते हैं और सर्व प्रकार की सहनशीलता का गुण धारण किये रहते हैं तब वह समाज चिरस्थायी होता है। निदान इस नियम का अभिप्राय ऐसा ही होना प्रतीत होता है कि संसार भर के मनुष्य कैसे ही भले अथवा बुरे क्यों न हों किन्तु आर्यसमाजस्थ अथवा उस पुरुष का यही काम है कि जो इस नियम पर चलता है कि अपनी ओर से तो संसार भर की तीनों प्रकार की उन्नति करने में चेष्टा निरन्तर करता रहे जैसे कि इस आदेश के करने वाले ने अपने जीते जीव किया है। इत्योम्।

सातवाँ नियम = SEVENTH COMMANDMENT

मूल = TEXT

(७) सबसे प्रीतिपूर्व्वक धर्म्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये ॥

Different Translations

I. All ought to be treated with love, justice, and due regard to their merits.

—*Triumph of Truth P. 100.*

II. Due love for all and appriciation of justice, an Arya should manifest in his behaviour towards others.

—*What is Arya Samaj P. 3.*

III. The Samaj should behave affectionately, justly and deservedly with all (human beings).

—*Our Translation.*

व्याख्या

जो मनुष्य संसार का उपकार करना छठे नियम से स्वीकार कर चुका है उसको फिर संसार के साथ कैसे वर्त्तना चाहिये वह इस नियम में आदेश किया गया है, इस नियम की हिन्दी पुरानी चाल की है अर्थात् उसमें धर्मानुसार और यथायोग्य शब्दों के बीच में "और" शब्द छिपा हुआ है, और इसी से इसके अर्थ करने में लोग कुछ गड़बड़ किया करते हैं, परन्तु जब व्याकरण के अनुसार वर्त्तमान काल की चाल से हमारा निर्देश किया हुआ 'और" शब्द अर्थ करने के समय लक्ष्य कर लिया जाय तो उसकी भाषा का क्रम स्पष्ट हो जाता है, तदनन्तर समझना चाहिये कि उसमें "सबसे" संसार अर्थात् संसार भर के मनुष्य मात्र से अभिप्राय है चाहे वे किसी भी जाति आदि के क्यों न हों, और उनसे तीन प्रकार के बर्त्ताव रखने का आदेश किया गया है। अर्थात् १, प्रीति-पूर्वक २, धर्मानुसार और ३, यथायोग्य।

इनमें से जो पहिला प्रीतिपूर्वक नामक प्रकार है उसके विषय में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह हम भले प्रकार जानते हैं कि जिसे हम संस्कृत में प्रेम और अरबी तथा फारसी में इश्क अथवा मुहब्बत

और अंग्रेजी में Love लव कहते हैं। उसी का नाम प्रीति है, और उसके विषय में जो अब तक देश-देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर के अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी भाषाओं में लिखा पढ़ा है उसके पढ़ने से निश्चित होता है कि वह एक अद्भुत, अपूर्व और अमूल्य वस्तु है कि जिससे अनेक फुटकर भूत एक समूह रूप से जगत् में विद्यमान रहते और सुख भोग करते हैं और जहाँ वह नहीं रहती है वहाँ उसका अभाव फूट कहलाती है, और यह वह परम नष्ट वस्तु है कि जिसने बड़े-बड़े प्रतापी राज्यों तक को छिन्न-भिन्न और नष्ट-भ्रष्ट करके हीन और दीन बना दिये हैं, तथा उसके और उसके अभाव के चमत्कार जो किसी को देखने हों तो वह उनको आप करके तत्काल-फल देख सकता है, अतएव इस नियम में इस अमूल्य वस्तु को धारण करने का आदेश किया गया है, जब हम सब के साथ प्रीतिपूर्वक वर्तेंगे तब वे भी हमारे साथ वैसे ही व्यवहार करेंगे, और यह तो कदापि संभव नहीं है कि हम तो अन्य मनुष्य को मनुष्य ही न समझें—वरन् अपने को तो अनेक गुण सम्पन्न और अन्य को अनेक अवगुण सम्पन्न समझ कर हक़ी ही समझें और वे हम से एक ओर से परम प्रीति-पूर्वक व्यवहार ही किया करें।

कितनेक अपने को बड़े ही सत्याचारी और अन्य को बड़े ही मिथ्याचारी समझ कर कहा करते हैं कि हम जो अप्रियाचरण करते हैं वह परम युक्त है परन्तु उनको श्री मनुजी महाराज का यह वचन सदैव ध्यान में रखना चाहिये—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्य्यात्केनचित्सह॥

यदि हम यह मान भी लें कि सत्याचारी वास्तव में सत्य पर ही आरूढ़ है और मिथ्याचारी भूल पर है परन्तु यह तथापि असंगत है कि वह भ्रान्त पुरुष के साथ अप्रियाचरण ही करे, अनुभव से देखा गया है कि उक्त भ्रान्त पुरुष के साथ सदैव प्रियाचरण करने से तो कालान्तर में कुछ अच्छा फल निकला है और निकलता भी है। परन्तु अप्रियाचरण से तो सदैव वैर के बढ़ने और अनिष्ट फल प्राप्त होने के सिवाय और कुछ सार नहीं निकलता है, अतएव मानना चाहिये कि प्रत्येक आर्य को आपस में और मनुष्य मात्र के साथ अपनी

र से तो जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक परम प्रीति पूर्वक ही व्यवहार रखना ..हिये, और जैसे ऊपर कहा हुआ श्री मनुजी महाराज का वचन सदा ध्यान में रखना उचित कहा है। वैसे ही महाभारत में कहा हुआ आर्यशील का एक यह लक्षण भी सदैव स्मरण रखना चाहिये कि जिससे कोई भी आर्य अपने शील से कदापि च्युत नहीं हो सके :—

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः॥
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्वा न पश्चात् कुरुते नुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥

इन दोनों वचनों का निदिध्यान करने से थोड़े ही काल में हम को स्वतः अनुभव होने लगेगा कि हमारे अन्तःकरण में कैसा परम प्रेम का एक प्रवाह हने लगता है।

इसके अनन्तर हम को धर्मानुसार व्यवहार करने का आदेश किया गया , उसका यह ही अभिप्राय नहीं है कि हमें समाजस्थों के साथ तो प्रीति-र्वक वा जितना वह इस धर्म को मानते हैं उसके अनुसार ही व्यवहार रखें थवा अन्य धर्मविलम्बियों के साथ उनके वैधर्म्य के कारण से सदा विरोध ही रया करें, किन्तु यह अभिप्राय है कि धर्मानुसार शब्द का ठीक-ठीक अर्थ पांचवें नयम में यह स्पष्ट किया हुआ है कि "सत्य और असत्य को विचार कर" ससे यह सिद्ध होता है कि सत्यासत्य के विवेकपूर्वक अर्थात् जो भले मनुष्य उनके साथ वैसा और बुरों के साथ वैसा व्यवहार करें, इसका भी यह भिप्राय नहीं है कि बदमाश के साथ हम बदमाशी करें, परन्तु यह है कि बुरे ी बुराई से पृथक् रहें और प्रयत्न करते रहें कि वह किसी प्रकार से अपनी राई को त्याग दे और भला हो जाय, क्योंकि जैसे हमारा कोई निजी भाई थवा बेटा जो कदाचित् बदमाश होता है उसमें भी हमारी भाईपने वा टापने की प्रीति तो यथावत् स्थिर रहती है। परन्तु उसकी बुराई का मन में ोक और उसको वह किसी प्रकार से छोड़ दे इसका सदा चिंतवन और यत्न बना रहता है; वैसे ही संसार भर के बुरे मनुष्यों के प्रति हमारी ऐसी ो शुद्ध भावना सदैव बनी रहनी चाहिये, जब कि हम ऐसी शुद्ध भावना संपन्न हो जायंगे तब हम अपने को आप ही धन्य मानेंगे।

अब रहा तीसरा प्रकार "यथायोग्य" वह सम्बन्ध का सूचक है, और वह अनेक सम्बन्ध हम को भले प्रकार ज्ञात हैं जैसे राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, बन्धु-बन्धु, इष्ट-मित्र, वृद्ध बालक, हाकिम-महकूम, और अफसर-मातहत आदि। यदि हम प्रत्येक अपने-अपने पद के अनुसार अर्थात् यथायोग्य रीति से संसार भर के मनुष्य मात्र के साथ व्यवहार करें तो कदापि विरोध नहीं उत्पन्न होगा। किन्तु जब मनुष्य अपनी औकात से बढ़कर हपट्ठा भरता है तब ही अनेक अड़चनें उपस्थित होती हैं, निदान अपने-अपने पद और अधिकारादि के अनुसार वर्तना यथायोग्य कहलाता है।

वाह क्या कहना है! कि इस नियम के आदेश करने वाले पुरुष कैसे नेक-नियत और संसार भर का भला चाहने वाले और सब में शान्ति फैलाने वाले थे कि कुछ प्रशंसा नहीं कर सकते हैं। वैसे ही उनकी बुद्धिमत्ता की भी क्या प्रशंसा करें कि संसार भर के मनुष्य मात्र के परस्पर के व्यवहार को इन तीन प्रकारों के उत्तम बंधन में कैसी सुन्दरता से बाँध दिये हैं कि कोई शंका ही उत्पन्न नहीं हो सकती है और न उसके अनुसार चलने में कुछ अड़चन पड़ती है, और जो मनुष्य उनमें से एक को भी भले प्रकार सिद्ध कर ले तो निःसंदेह वह एक बड़ा भद्र पुरुष हो सकता है, भले प्रकार ध्यान देने से ज्ञात होगा कि सामाजिक उद्देश्यों के अनुसार हर तरह की कामयाबी अर्थात् सफलता प्राप्त करने का बड़ा ही आधार इस नियम पर है, जो हम इसको भली प्रकार अमल में ले आवेंगे तों सर्व प्रकार की सिद्धियें प्राप्त होने में कुछ संदेह ही नहीं है, हे प्रभु! जैसा इस नियम के आदेश करने वाले महर्षि का अभिप्राय है, वैसा ही तू उसका प्रभाव हमारे अंतःकरण में प्रकाश कर! इत्योम्।

आठवाँ नियम=EIGHTH COMMANDMENT

मूल=TEXT

(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए ॥

Different Translations

I. Ignorance ought to be dispelled and knowledge diffused.

—*Triumph of Truth P. 100.*

II. He should endeavour to diffuse knowledge and dispel ignorance.

—*What is Arya Samaj P. 3.*

III. The Samaj ought to dispel ignorance and diffuse knowledge.

—*Our Translation.*

व्याख्या

इसके पहिले सात नियमों का पूरा-पूरा साधन करने से जो योग्यता हमको प्राप्त होनी संभव है उसके हुए पीछे अब इस नियम में एक वह कर्त्तव्य कर्म हमको आदेश किया गया है कि जिससे हम मुक्ति तक को प्राप्त हो सकते हैं, वह यह है कि हम प्रतिक्षण में अविद्या का तो नाश और विद्या की वृद्धि किया करें, अब हमको पहिले यह समझना है कि अविद्या और विद्या किसको कहते हैं। ध्यान में रहे कि प्रत्येक शास्त्र में उसके विषय के अनुसार उनके अनेक लक्षणादि वर्णन किये हैं, तदनुसार ही यदि यहाँ वर्णन किया जाय तो बड़ा ही विस्तार होगा, इसलिए जैसा इस नियम में समुच्चय अर्थ माना गया है वैसा हम सर्वदेशी लक्षण यहाँ पर प्रकाशित करते हैं:—

अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्।
यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्॥

अन्यच्च—

सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्व्वन्यायविरोधिनी।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम्॥

—श० क० पृ०

तथा स्पष्ट ही स्पष्ट यह जान लेना चाहिये कि अज्ञान, दुष्टज्ञान, मिथ्या-ज्ञान, विद्याविरोधिनी और अयथार्थ बुद्धि आदि को अविद्या कहते हैं और उसका संस्कृत में "न विद्या। नञ्तत्पुरुषः" अर्थ होता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि कोई वस्तु वास्तव में हो कुछ और उसको हम और ही कुछ समझें ऐसे उलटे ज्ञान को अविद्या कहते हैं—जैसे कि जड़ को चेतन और चेतन को जड़, सोने को लोहा और लोहे को सोना, और रात को दिन और दिन को रात इत्यादि, इस पर से अब हम जितने कर्म प्रतिक्षण में करते हैं उनकी परीक्षा करके समझ सकते हैं कि वे अविद्या के हैं वा नहीं और जो वे अविद्या के सिद्ध हों तो उनको त्याग सकते हैं क्योंकि अविद्या के न मानने में संसार भर के सब बुद्धिमानों का एक मत है, तथा इस जगत् में हम अनेक मनुष्य ऐसे-ऐसे भी देखते हैं कि जो अविद्या में परम लिप्त हो रहे हैं और यद्यपि उनका अंतः-करण उनको चिताता है कि यह पदार्थ चेतन नहीं किन्तु जड़ है तथापि वे किसी विशेष कारण से इसको न मानकर उलटा ही व्यवहार करते हैं अतएव उनको बुद्धिमान् लोग अज्ञानी कहा करते हैं और वे अन्त को निःसन्देह दुःख की यातना भोगेंगे! जिन मनुष्यों के अच्छे कर्म होते हैं वे किसी विद्वान् के थोड़े ही सत्संग से अविद्या का त्याग करके विद्या में रत हो जाते हैं और जिनके बुरे कर्म होते हैं उनके साथ चाहे जितना कोई विद्वान् प्रयत्न क्यों न करे परन्तु वे अविद्या के समुद्र में डुबकियें ही खाया करते हैं, इसके विषय में आत्मबोध नामक ग्रन्थ में यह कहा है:—

आविरोधितया कर्म नाऽविद्यां विनिवर्त्तयेत्।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत्॥

उसका नाश विद्या के सिवाय और किसी वस्तु से नहीं हो सकता है, इसलिये यह अत्यावश्यक है कि हम विद्या को भी जान लें कि वह क्या है। अविद्या के लक्षण को उलटने से ही हम जान सकते हैं कि ज्ञान, यथार्थज्ञान और तत्त्वसाक्षात्कारादि को विद्या कहते हैं। और वह विद्याशब्द विद्+क्यप् से बना है और उसका "विद्यतेऽसौ" अर्थ संस्कृत में-किया करते हैं कि जिससे भी ज्ञान का ही अर्थ प्राप्त होता है। उसके मुख्य दो भेद हैं अर्थात् अपरा और परा, और उनका यथार्थ वर्णन वेदों में किया हुआ है, परा से जिसको हम सांप्रतंकाल में अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, परमार्थविद्यादि कहते हैं

उसका अभिप्राय है, और इसी का नाम प्रथम नियम में सत्यविद्या करके ग्रहण किया गया है। और अपरा उसको कहते हैं कि जिसको अध्ययनाध्यापनरूपा, सृष्टिविद्या, और पदार्थविद्यादि करके कहते हैं। वैदिक समय में सब लोग इन दोनों विद्याओं का ज्ञान केवल वेद को ही पढ़कर उपार्जन कर लेते थे क्योंकि प्रथम अपरा का ज्ञान यथावत् न होने से परा का यथावत् ज्ञान नहीं होता है। और अपरा का ही परमोत्तम फल परा है। किन्तु तदनन्तर उसके अनेक हेतुशास्त्र अनेक ऋषि-मुनि और अर्वाचीन पंडितों ने बना दिये हैं। इसी से उसके अनेक नामान्तर भी हो गये हैं। तथा इस अध्ययनाध्यापनरूपा जो अपरा विद्या है उसके हेतुशास्त्रों की गणना अनेक प्रकारों से शास्त्रों में करी है परन्तु आर्यसमाज इनमें से उन ग्रन्थों को मानते हैं कि जिनके नाम स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश की दूसरी कलम में लिखे हुए हैं।

इसके अध्ययनाध्यापन से हमको पृथिवी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणादि का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है और फिर जो परा अर्थात् सत्यविद्या इस अपरा का परमोत्तमफल है वह प्राप्त होकर हम विमुक्त होते हैं। याद रखना चाहिये कि ज्यों-ज्यों हमको अपराविद्या का ज्ञान होता जाता है त्यों-त्यों अविद्या का नाश होता जाता है जैसे कि आगे कभी हमारा विश्वास था कि सूर्य फिरता है और अब हमको अपरा विद्या के ज्ञान से निश्चित हो गया कि पृथिवी फिरती है अतएव हमारी अविद्या अर्थात् अज्ञान दूर हो गया और अब तक जो हमारे स्वदेशी बन्धु जिन पुस्तकों में सूर्य का फिरना और दूध आदि के समुद्रों का होना लिखा है उन पर पूर्ण विश्वास करके उन अयुक्त बातों को सत्य मानते हैं उनको अविद्या में लिप्त मानना पड़ता है और भला उनकी ऐसे ज्ञान से क्योंकर मुक्ति हो सकेगी। इसी तरह हम अपने अनेक वर्त्तमान विश्वासों की तपास करके अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि कर सकते हैं। जिज्ञासु को उचित है कि जो कुछ वह सत्य करके मान रहा है उस को मानते हुए भी उसका दुराग्रह त्याग करके सत्य का अन्वेषण सदा किया करे और जो-जो उसे भूभ्रमण आदि की तरह सत्य निश्चित होता जाय उसे ग्रहण करता जाय। परन्तु जब तक दुराग्रह नहीं त्याग किया जायगा तब तक उसकी अविद्या का कदापि नाश न हो सकेगा। सब बुद्धिमान् इसमें एकमत हैं कि विद्या से अविद्या के नाश होने पर मुक्ति होती है और ऐसा होना कैसा

कठिन है। परन्तु जगत् में जो असंख्यात मजहब प्रचलित हो रहे हैं उनके ग्रंथो में मुक्ति को एक ऐसी सस्ती वस्तु मानी है कि संसार में वैसी कोई भी नही निकलेगी। कोई कहता है कि अमुक नाम के लेने, अमुक धर्मपुस्तक का कोई शब्द अनायास कान में पड़ जाने, तिलक लगाने, किसी तीर्थ में एक गोता तो क्या परन्तु उसकी सीमा में पग धरते ही, किसी व्रत अथवा उपवास के करने और किसी मंत्र के जपने आदि से तुरन्त ही मुक्ति मिल जाती है। पुराण और उपपुराणों के पढ़ने से और भी ऐसे अनेक सस्ते उपाय मुक्ति मिलने के प्राप्त हो सकते हैं। जो इनको कदाचित् सत्यमानें तो फिर अध्ययनाध्यापनरूपा जो अपराविद्या है उसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती है और शंकराचार्य्यादि ने भी जो केवल ज्ञान से ही मुक्ति का होना माना है वह भी निष्फल सिद्ध होता है और फिर इन बड़े-बड़े शास्त्रियों और पंडितों की भी कुछ आवश्यकत नहीं रहती है और जो हम इस विषय के निर्णय करने में कसरत-राय अर्थात् देश की बहु-सम्मति पर दृष्टि दें तो इन बड़े-बड़े पंडित और शास्त्रियों की अपेक्षा हजारों गुने अधिक जीवनमुक्त पुरुष साधुओं के वेष में निकलेंगे कि जो गली-गली में भिक्षा माँगते फिरते हैं और उनको हम इन पंडित और शास्त्रियं से भी अधिक पूज्य समझते हैं और वे एक अक्षर भी नहीं जानते हैं। उन स की राय से तो अपरा विद्या का प्राप्त करना निष्फल ही ठहरेगा। क्योंकि एक अक्षर भी पढ़े बिना जीवन-मुक्त हो गये हैं और गोस्वामी, गुसाई, महन्त औ बाबाजी आदि बन कर अपना ऐश-आराम करते हैं और बड़े-बड़े शास्त्री औ पंडित लोग उलटी उनकी अर्चा और शुश्रूषा करके अपना पेट भरते हैं। अबत किसी विद्वान् ने कुछ ध्यान नहीं दिया है नहीं तो विदित हो जाता कि जित मजहब भारतखंड में प्रचलित हो रहे हैं उन सबके साधुवेषधारी पुरुष जीवनमुक्त समझे जाते हैं और जो वे एकत्र किये जाएँ तो उनकी एक बड़ी पलटन-क पलटन निकलेगी। खैर खुछ भी हो किन्तु आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुसा मुक्ति ऐसी तुच्छ वस्तु नहीं मानी गई है कि जैसी अन्यमार्गियों ने समझ रक्ख है और वह निश्चय करके अविद्या का पूरा-पूरा नाश होने पर ही यथार्थज्ञान हो सकती है। इस नियम के अभिप्रायानुसार प्रथम हमको अपनी अविद्या क नाश करके विद्या की वृद्धि करनी चाहिये और फिर आप एक नमूना बनक अन्य बन्धुओं की अविद्या दूर करने को प्रवृत्त होना चाहिये। इससे कभी कु

फल नहीं निकलना है कि हम अन्य को तो उपदेश किया करें और आप अविद्या में फंसे रहें, और केवल समाज में भरती हो जाने और उसकी सहायतादि करने से हमारी अविद्या का दूर हो जाना नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यह दशों नियम प्रथम हमारे आप अमल करने और फिर किसी को उपदेश करने के लिये हैं। देखो सत्य वार्ता में सब विद्वानों का एक मत होता है। जैसे इस नियम में अविद्या को बुरी और विद्या को भली वर्णन करी है वैसे ही अंगरेजी भाषा के महाकवि शैक्सपीयर ने भी एक स्थान पर कहा है:—

Ignorance is the curse of God.
Knowledge the wing with which we fly to heaven."

Shakespeare.

अर्थात् अविद्या ईश्वर का शाप है और विद्या वह पक्ष है कि जिससे उड़कर हम स्वर्ग को जाते हैं।

इसमें कुछ संदेह नहीं है कि वह ऐसी ही है और उस महर्षि को भी धन्य है कि जिसने हमारे ऊपर परम अनुग्रह करके ऐसा सच्चा उपदेश किया है। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि इस नियम के माननेवालों पर ऐसी दया करे कि वह नित्य अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करके अन्त को मोक्ष के भागी हों।

इत्योऽम्

नववाँ नियम=NINETH COMMANDMENT

मूल=TEXT

(९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ।।

Different Translations

I. No one ought to be contended with his own good alone, but every one ought to regard his prosperity as included in that of others.

—*Triumph of Truth P. 100.*

II. He should not be content with his own improvement, but look for it in that of others.

—*What is Arya Samaj P. 3.*

III. Every one should not be content with his own prosperity, but, he must regard it as included in that of all.

—*Our Translation.*

व्याख्या।

इसके पहिले आठ नियमों पर पूरा-पूरा अमल करने पर जो मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति होती है उसके विषय में इस नियम में आदेश किया गया है। वृद्धि अथवा समृद्धि को उन्नति कहते हैं। वह विद्या की वृद्धि और अविद्या के यथावत् नाश होने से होती है। हमारी यह प्रवृत्ति है कि हम अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट रहते हैं परन्तु इस नियम से यह आदेश किया गया है कि हम को केवल स्वार्थी ही नहीं होना चाहिए वरन् सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। कितनेक लोगों का कहना हैं कि इस नियम पर किसी का भी यथायोग्य अमल नहीं हो सकता है और न वह होता हुआ दृष्टि आता है। सो इतना तो हम भी कह सकते हैं कि इस पर पूरा-पूरा अमल का हो जाना बहुत ही कठिन है परन्तु यह सिद्धान्त अयुक्त नहीं है। जिसका वह आदेश है वह महात्मा तो निःसंदेह इसका अनुरूप था। उसने जो कुछ हमको

आदेश किया है उसके प्रतिकूल उसने कभी भी कुछ व्यवहार नहीं किया है। यदि हम उसके आदेश अर्थात् हमारे मन्तव्य पर न चलें तो यह उसका दोष नहीं है किन्तु हमारा दोष है और बुद्धिमान् लोग ऐसी दशा में उसको दोष नहीं देते हैं परन्तु अस्मदादि को भला बुरा कहा करते हैं। इस आदेश में हम को हमारी निज उन्नति करने का निषेध नहीं किया गया है किन्तु हमको ऐसे सत्पुरुष बनने की शिक्षा करी गई है कि हम अन्यसब की भी इतनी उन्नति करें तथा चाहें कि हमारी निज उन्नति उसके अन्तर्गत होकर हमको स्वार्थी के साथ परार्थी भी बना देवे। अपना पेट तो पशु भी भर लेता हैं परन्तु मनुष्य वह है कि काम पड़े तो आप भूखा रह जाय पर अन्य किसी को भूखा न रहने दे। इसीलिये इस नियम में तीन बार उन्नति शब्द का प्रयोग करके बलपूर्वक आदेश किया गया है। इस नियम की उन्नति की सब विधियों में एक-सी व्याप्ति है, जैसे कि किसी एक समाज अथवा एक प्रान्त की प्रतिनिधि ने अपने नगर अथवा प्रान्त की उन्नति का कोई विधान किया तो उसको एकदेशी ही दृष्टि नहीं कर लेनी चाहिए कि अन्य सबसे सहायता लेकर अथवा न लेकर अपनी ही उन्नति कर संतुष्ट हो जाय और जिस समाज अथवा प्रान्त ने सहायता दी है अथवा न भी दी है वह जो कदाचित् अवनति को प्राप्त होने लगी है तो उसको अवनति को प्राप्त होने दे। जब ऐसी स्वार्थी बुद्धि हो जाती है तब फिर एक समाज में विषमता फैल कर परार्थ का नाश हो जाता है। इसी प्रकार हम अन्य बातों का भी विचार कर सकते हैं: बुद्धिमान् जान सकते हैं कि अन्य सबकी उन्नति में अपनी उन्नति को समझना कैसा कठिन है और ऐसा समझने वाले का अंतःकरण भी कैसा अलौकिक होना चाहिए। स्मरण करना चाहिए कि छठे नियम में शारीरिक, आत्मिक, और सामाजिक नामक तीन प्रकार की उन्नति मानी गई हैं और उसकी संक्षिप्त व्याख्या वहाँ पर कर दी गई है। इस नियम के आदेश की तामील में आर्यसमाजों ने कालेज, हाईस्कूल, एंगलोवर्नैक्यूलर स्कूल और प्राईमरीस्कूल तथा पुस्तकालय और अनाथालय आदि कर रक्खे है और करते भी जाते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे केवल अपनी ही उन्नति में संतुष्ट नहीं हैं वरन् मनुष्यमात्र की उन्नति में अपनी उन्नति को समझते हैं। हमारे देश की अन्य अनेक सभाओं में से किसी ने भी आज तक हमको कुछ उन्नति करके नहीं दिखाई है किन्तु ऐसा

तो उनका बर्ताव देखने में आता है कि अपने से तो कुछ बन नहीं सकता है और आर्यसमाजों को अनेक प्रकार के दुःख देते हैं कि उनके देशोन्नति के कार्य में किसी-न-किसी प्रकार का विघ्न होय। परन्तु समाजों ने उस उस्ताद की तालीम पाई है कि चाहे उनकी जान भी क्यों न चली जाय परन्तु वे अपने भले काम को कभी भी नहीं छोड़ेंगे। देखो वे चौमुखे लड़ते-भिड़ते भी जाते हैं, अनेक प्रकार के कष्ट और श्रम सहते हैं, द्रव्य जैसी प्यारी वस्तु को आप दुःख पाकर परार्थ के लिए खरच करते हैं परन्तु जब देखो तब परार्थ के लिए कमर कसके खड़े हुए हैं। सांप्रतकाल में समाजों ने जो कुछ अपनी तथा पराई उन्नति करी है वह इन दस नियमों में जो सत् सिद्धांतों का आदेश उन को किया गया है उसका प्रताप है। क्योंकि उस महर्षि के उपदेश ग्रहण करने के पहिले वे सब भी अन्य सब बन्धुओं के सदृश पुरुषार्थहीन हो रहे थे और यह भी उस सत्योपदेश का चमत्कार है कि समाजों के नियम और उपनियमों के अनुसार किसी मनुष्य को समाज में भरती होने की ही देर है कि उसके तन में अपने आप पुरुषार्थ आ जाता है और वह अपनी उन्नति में संतुष्ट न रह कर अन्य सबकी उन्नति में अपनी उन्नति को समझने लग जाता है॥

इत्योऽम्।

दसवाँ नियम=TENTH COMMANDMENT

मूल=TEXT

(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

Different Translations

I. All ought to be subject to laws beneficial to the society at large but in personal matters they may act with freedom.

—*Triumph of Truth Page 100.*

II. In matters which affect the general social well-being of our race he ought to discard all differences and not allow his individuality to interfere but in strictly personal matters every one may have his own way.

—*What is Arya Samaj P. 3.*

III. All persons ought to be subject in obeying the generally beneficial laws of the Samaj, and, (they) all should remain independent in (obeying) the individually beneficial laws.

—*Our Translation.*

व्याख्या

यह अन्त का दसवाँ नियम है और उसमें अन्त को जो आदेश करना चाहिये वह किया गया है कि जिससे समाज अर्थात् समाजस्थ पुरुष अपने इन सब नियमों का निर्विघ्नतापूर्वक पालन कर सकें और उसका स्पष्ट अर्थ यह हैं कि (सब मनुष्यों को) इन नियमों को मानने वाले पुरुषों को अथवा आर्य-समाजस्थ को सर्वहितकारी नियम पालने में तो परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम के पालने में स्वतंत्र रहें। इन दसों नियमों में सर्वहितकारी और प्रत्येक के लिए हितकारी नामक दो प्रकार के कर्तव्य कर्मों का आदेश किया हुआ है अर्थात् यही दो कर्म हमको करने हैं। निदान हमारे यथावत् कर्तव्य कर्म इन दो संज्ञाओं के ही अन्तर्गत होंगे। उनमें से सर्वहितकारी

नामक में तो हमको परतंत्र रहने और प्रत्येक हितकारी में स्वतंत्र रहने की आज्ञा कियी गई है। अतएव यह नियम कर्तव्य कर्मों के सम्बन्ध में परतंत्रता और स्वतंत्रता का विधायक है। वर्तमान समय के बड़े-बड़े अनुभवी विद्वान् इन दशों नियमों में जो कुछ आदेश किया गया है उसको भले प्रकार अनुभव करके सिद्धान्त कर सकते हैं कि कोई मनुष्य अथवा समाज इन पर पूरा-पूरा अमल कर ले तो क्या उस वा उनमें वह अद्भुत अपूर्व प्रभाव उत्पन्न हो जावेगा कि जिसका वश में रहना या रखना एक बड़ा ही भारी काम होगा ! धन्य है वह महर्षि ! जिसके आदेश से ऐसा प्रभाव होता है। इसीलिये उस महात्मा ने अपने योगबल से अनुभव करके अपने आदेशों की अमूल्यता का अन्त इस अन्त के नियम में करके हमारी स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की सीमा बड़ी ही बुद्धिमानी के साथ ऐसी बांध दी है कि जो कभी भी विचल नहीं हो। यदि यह नियम आदेश नहीं किया होता तो सब नियमों के प्रयोग में लाने के समय ऐसी-ऐसी अड़चनें उपस्थित होतीं कि जिनका निवारण करना बहुत ही कठिन था। उधर तो इससे उन अड़चनों को दूर कर दिया है और इधर जो हमारी सनातन वैदिक स्वतन्त्रता और परतन्त्रता हैं वह हमको कैसी सुन्दरता से प्रदान कियी हैं। यह स्पष्ट है कि सांसारिक और पारमार्थिक सब व्यवहार इन दोनों से ही चलते हैं और जो उनमें से एक हो, और दूसरी न हो, तो उनका यथा-योग्य चलना बिल्कुल असंभव है। इस नियम की धर्म नीति, राजनीति और ग्रहनीति आदि सब में एक-सी व्याप्ति है और जो हम इसको शुद्ध अंतःकरण से प्रयोग में लावें तो वह दुस्तर नहीं है। यह दशों नियम साम्राज्य—सार्वजनिक—धर्म के हैं अतएव सर्वहितकारी और प्रत्येक-हितकारी शब्दों के अर्थ विषयपरत्व बदलते जायेंगे और वे विषय भी संख्या में अनेक होंगे। प्रत्येक के अर्थ में कहीं तो वह प्रत्येक आर्य, कहीं प्रत्येक समाज, कहीं प्रत्येक प्रान्त भर की समाजों, और कहीं प्रत्येक वर्ण, जाति, धर्म और देशादिका वाचक हो जायेगा, और वैसे ही सर्व को भी समझ सकते हैं। जब कोई विषय हमारे सम्मुख निर्णय को उपस्थित हो तो उस पर से हम सर्वहितकारी और प्रत्येक-हितकारी का प्रथम विचार करके फिर स्वतन्त्रता और परतन्त्रता को निश्चित कर सकते हैं। हमारी इतनी विवेचना पर से अनेक उदाहरणों की कल्पना करके जो चाहे वह इस नियम के मर्म को भले प्रकार समझ सकता है। यहाँ

ह भी ज्ञातव्य है कि जितने धर्म संसार भर में प्रचलित हो रहे हैं उनके धर्म
ग्रों ने अपने मानने वालों को अपनी किसी-न-किसी प्रकार की परतन्त्रता के
डंगे में फंसाए ही हैं परन्तु इन नियमों के आदेश करने वाले वास्तविक महर्षि
हम लोगों पर अपना कुछ भी अडंगा नहीं जमाया है किन्तु वह हमको
तोपदेश करके ज्यों-का-त्यों परम त्यागी बना रहा है। अतएव हम भी इस
ाख्या के अन्त में कहते हैं कि श्रीमत्स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज
ी जय ! ! !

इत्योऽम् ।

**आर्यसमाज चाहता है कि जन्म से लेकर मृत्यु तक संसार का
त्येक व्यक्ति हँसता रहे, रोये नहीं। वह एक ऐसा रास्ता बताता है
जस पर चलकर आनन्द-ही-आनन्द मिलता है। —सम्पादक**

ग्रन्थकार परिचय

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या

डा० भवानीलाल भारतीय, एम. ए. पी. एच. डी०

महर्षि दयानन्द की स्थानापन्न परोपकारिणी सभा के प्रथम उपमंत्री त
हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या के पूर्व
गुजरात के निवासी थे। उनके पिता श्री विष्णुलाल मथुरा में सेठ लक्ष्मीच
के यहाँ मुनीमी का कार्य करते थे। पण्ड्या जी का जन्म अगहन कृष्णा तृत
१९०७ वि० मंगलवार को हुआ। सात वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत
पश्चात् इन्हें हिन्दी और संस्कृत की शिक्षा दी गई। दो वर्ष पश्चात् सेंट जा
कालेज के स्कूल विभाग में अंग्रेजी भी पढ़ी। कुछ समय तक बनारस
क्वीन्स कालेज तथा जयनारायण कालेज में भी पढ़े। यहाँ इनकी द्वितीय भ
बंगला थी। काशी में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आपकी घनिष्ठता
गई। जो-धीरे-धीरे मैत्री के रूप में परिवर्तित हुई। भारतेन्दु द्वारा प्रवर्ति
हरिश्चन्द्र चन्द्रिका पत्रिका को इन्होंने 'मोहन चन्द्रिका' के नाम से नाथद्वा
से प्रकाशित किया। इसी पत्रिका में महाभारत काल के परवर्ती आर्य राजा
की वह सूची प्रकाशित हुई थी, जिसे स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के एकाद
समुल्लास के अन्त में प्रकाशित किया है।

१८७७ ई० में पण्ड्याजी उदयपुर राज्य की सेवा में आये। नाथद्वा
और कांकरोली के बल्लभ सम्प्रदाय के महन्तों की अवयस्क दशा में
रियासतों की प्रबन्ध व्यवस्था के अधीक्षक बने। तत्पश्चात् उदयपुर की स
प्रदालत की दीवानी का काम इन्हें मिला। पुनः स्टेट कौन्सिल के सदस्य त
सचिव भी बनाये गये। १३ वर्ष तक उदयपुर राज्य की सेवा में रहने
पश्चात् इन्होंने त्यागपत्र दे दिया और प्रतापगढ़ राज्य के दीवान बन
जिस समय उदयपुर में स्वामी दयानन्द ने अपनी उत्तराधिकारिणी प
कारिणी सभा की स्थापना की तो पण्ड्या जी उसके प्रथम उपमंत्री ब
गये। स्वामी दयानन्द के प्रति उदयपुर महाराणा श्री सज्जनसिंह को आ

। में भी पण्ड्या जी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उस समय महाराणाजी चार नास्तिकता की ओर झुकते जा रहे थे। इस कारण पण्ड्या जी उदयपुर के एक अन्य विद्वान् कविराज श्यामलदास अत्यन्त चिन्तित रहते अन्ततः उन्होंने स्वामी जी को चित्तौड़ निमंत्रित किया तथा महाराणा से करवाई। धीरे-धीरे महर्षि तथा महाराणा का परस्पर प्रीतिभाव बढ़ता रहा। इसमें पण्ड्या जी की भूमिका नितान्त महत्त्वपूर्ण थी।

अपने द्वितीय बार के उदयपुर प्रवास काल में पण्ड्या जी ने श्री महाराज छा—"भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति कब होगी ? इसके उत्तर वामी जी ने कहा—एक धर्म एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना ऐसा । दुष्कर है। जब ३० अक्टूबर १८८३ को स्वामी जी का अजमेर में निधन या तो स्वामी जी की अन्त्येष्टि के दूसरे दिन अर्थात् १ नवम्बर १८८३ श्री महाराज के वस्त्र पुस्तक आदि को पण्ड्या जी ने ही परोपकारिणी के अधिकारी की हैसियत से अपने अधिकार में लिया था।[1]

पण्ड्या जी को दिसम्बर १८८५ में परोपकारिणी सभा के मंत्री पद पर क्त कर लिया गया, क्योंकि प्रथम मंत्री कविराज श्यामलदास ने अपनी स्थता के कारण त्यागपत्र दे दिया था। परोपकारिणी सभा का द्वितीय वेशन २८-२९ दिसम्बर १८८५ ई० में मेयो कालेज स्थित मेवाड़ दरबार कोठी में हुआ था। इसके प्रस्ताव संख्या ११ के अनुसार यह निश्चय हुआ "पण्ड्या जी स्वामी जी महाराज का सत्य जीवन चरित्र लिखने के अधि- ी हों और इस विषय में उनको जो सहायता आर्य-सामाजिकों से लेना श्यक हो वह वे परभारा (परोक्ष रूप में) पत्र व्यवहार कर लेवें"[2] ालीन मासिक पत्र देश हितैषी के पुराने अंकों से यह भी ज्ञात होता है पण्ड्या जी ने आर्य समाजों से निवेदन भी किया था कि उन्हें जितना कुछ महाराज का वृत्तान्त ज्ञात हो उसे वे पण्ड्या जी को भेज दें। परन्तु ऐसा ता है कि पण्ड्या जी यह जीवन चरित नहीं लिख सके।

विस्तृत विवरण के लिये देखो—वार्षिक आवेदन पं० श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या उपमंत्री श्रीमती परोपकारिणी सभा निवेदित वैदिक यंत्रालय प्रयाग में मुद्रित १९४२ वि०।

परोपकारिणी सभा का द्वितीय वार्षिक कार्य विवरण।

3810

पण्ड्या जी ने १२ पुस्तकें लिखी हैं जिनमें आर्यसमाज सम्बन्धी ग्रन्थ
बिवरण इस प्रकार है—

१. आर्यावर्तान्तर्गत आर्य समाजों के अंग्रेजी अनुवाद और आर्य
व्याख्या सहित दस नियम—इस पुस्तक का अंग्रेजी नाम भी मुख पृष्ठ
इस प्रकार दिया गया है—The Ten Command ments of the A
Samajes of Aryavarte with English Translation and A
Bhasha Commentary. यह ग्रन्थ आर्य सिद्धान्त मार्तण्ड वार्षिक ग्रन्थ
के तीसरे भाग के रूप में वैदिक मंत्रालय, अजमेर से छाप कर १८९७
प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ के सर्वाधिकार लेखक ने श्रीमद्दयानन्द
हाई स्कूल, अजमेर को भेंट कर दिये थे। पुस्तक में आर्य समाज के प्र
नियम का मूल पाठ देकर उसके तीन अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किये गये
क्रमशः Triumph of Truth (मास्टर दुर्गाप्रसाद लिखित) तथा Wha
Arya Samaj ? (लेखक—Amember of the Arya Samaj, A
१८९० ई० में प्रकाशित) इन दो अंग्रेजी पुस्तकों से उद्धृत तथा लेखक
स्वयं किया हुआ है। व्याख्या भाग में प्रत्येक नियम को प्राचीन ग्रन्थ
उद्धरणों से पुष्ट किया गया है जो लेखक के विशद अध्ययन का परिच
है। यही पुस्तक जनज्ञान द्वारा आपके हाथ में है।

२. आर्य सिद्धान्त मार्तण्ड भाग १—इसमें ओंकार की विस्तृत शा
व्याख्या है। यह राजस्थान यंत्रालय अजमेर (मुन्शी समर्थदान संचालित
१८९० ई० में छपी।

३. आर्य सिद्धान्त मार्तण्ड भाग २—इसमें आर्य समाज का विस्तृत पर
है। यह पुस्तक १८९२ ई० में वैदिक मंत्रालय से प्रकाशित हुई।

४. आर्य सिद्धान्त मार्तण्ड के चतुर्थ भाग के रूप में पण्ड्या जी
दयानन्द के स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश की व्याख्या लिख रहे थे। सम
यह पुस्तक छप नहीं सकी। इसी प्रकार 'आर्यों के संवत्सर की गणना' शी
पुस्तक भी विज्ञापित भी हुई थी। आर्य-शिक्षा के नाम से उन्होंने चार
में धर्म शिक्षा की एक पुस्तक भी लिखी थी। १९ वीं शताब्दी के अन्त
सम्भवतः पण्ड्या जी परोपकारिणी सभा के मंत्री पद पर रहे।

प्रिंटवैल प्रेस, बाड़ा हिन्दूराव दिल्ली-६